

अपनी उनकी सबकी बात

मई 2019 नई दिल्ली

अपनी बात

पंकज चतुर्वेदी की दस कविताएं विकलांग राजनीति: हरिशंकर परसाई

सबकी बात

जनादेश का विश्लेषण: महमूद फ़ारुक़ी ज़मीन से: उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, आरा बनाम बेगुसराय का कम्युनिस्ट मॉडल, वाम दलों का हाल

आपकी बात

संस्कृति पर रवि सिन्हा का लंबा लेख

उनकी बात

सेक्युलर डिसकोर्स पर शाहनवाज़ आलम



अपनी बात

पंकज चतुर्वेदी की दस सामयिक कविताएं

1

जिस दिन नेता कहते हैं

जिस दिन नेता कहते हैं :

कमज़ोरों का उत्थान होगा

उसके बाद ही कहीं कोई कमज़ोर पिटता है

उसे ज़लील करते हुए कहा जाता है : अब यह नया राष्ट्र बन गया है इसकी जय बोल !

2

जनमत

धन, विद्वेष और आतंक से जुटाया गया जनमत बचाने नहीं आता

उससे बचने के उपाय करने पड़ते हैं

भले लोग

भले लोग अधिकतर उसके साथ हो लिये जो भला नहीं था

बीचबीच मेंकहते ज़रूर जाते थे :
'राजनीति अब
भले लोगों के
वश की नहीं रही'
हँसते जाते थे उस पर
जो हार रहा था
भला था

4

शालीनता का अभिनय

अशालीन भाषा बोलते हुए चुनाव जीत जाना और जीतने के बाद शालीनता का अभिनय

इससे तो वही अशालीनता अच्छी थी उसमें तुम्हारा सच था 5

ईवीएम

मशीन में कोई कमी नहीं थी मनुष्य में थी

6

और ही देश

जब गाँधी की हत्या देशभक्ति है तो यह कोई और ही देश है जिसमें हमें ले आया गया है आप जान न पाये हों तो लाने वालों का क्या क़सूर !

7

एकजुट

सभाभवन में विजयी-राजनेता कहता है : अमीर जब और अमीर होगा तभी ग़रीब कम ग़रीब होगा

नया भारत है तो अर्थशास्त्र भी नया है

बाहर सम्पन्न घरों के नवयुवक नारा लगाते हैं : 'हमें नहीं अधिकार चाहिए यह नेता बारम्बार चाहिए'

> ऊपर से जो विजय का उल्लास जान पड़ता है अंदर वह ग़रीब को उसका हक़ न मिलने देने की ख़ुशी है

यह विजय सचमुच तर्कसंगत है नेता और समर्थक एकदूसरे का मक़सद-समझते हुए एकजुट हैं

8

हार पर

एक छोटे मक़सद में उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया है वे ज्यादा
और संगठित हैं

दूसरी ओर

मक़सद बड़ा है

पर समर्पित लोग

कम हैं

और

बिखरे हुए भी हैं

विद्वानों को हार पर
विस्मय है

मगर बात बहुत सीधी है :
विचार
जो जिया नहीं जाता
जयी नहीं होता

9

स्वाधीन भारत में

सतर बरस के
स्वाधीन भारत में
मैं अपनी नागरिकता
बदलना नहीं चाहता
किसी का दरवाज़ा
खटखटाते डरता हूँ
कि वह खोले और कहे :
हिंदू राष्ट्र में
आपका स्वागत है!

हे राम!

वैसे यह प्रमाणित नहीं है पर उसके काफ़ी क़रीब है कि अपनी हत्या के वक़्त गाँधी दो ही शब्द कह सके : "हे राम !"

आज सबसे बड़ा प्रश्न यह है

कि तुम किस भाषा में

अपनी प्रार्थना और शोक

व्यक्त करोगे

जबकि तुम्हें मालूम हो

उसी भाषा में तुम पर

होंगे अत्याचार

विकलांग राजनीति

हरिशंकर परसाई

चुनाव के समय हर चीज का महत्व बढ़ जाता है। मेरी टांग की भी कीमत बढ़ी। मुझे यह मुगालता है कि मेरी टांग में फ्रेक्चर हो गया था। यह खबर सारे विश्व में फ़ैल चुकी है। मुझे यह सुखद भ्रम नहीं होता तो मेरी टांग इतनी जल्दी ठीक नहीं होती। यश की खुशफहमी का प्लास्टर ऊपर से चढ़ा लिया था मैंने।

चुनाव-प्रचार जब गर्मी पर था, तब मैं सहारे से लंगड़ाकर चलने लगा था। मैं दुखी था कि टूटी टांग के कारण मैं जनतंत्र को भावी रूप नहीं दे पा रहा हूं। पर एक दिन दो-तीन राजनीति के लोग मेरे पास आए। वे जनता पार्टी के थे। पहले उन्होंने बड़ी चिंता से मेरी तिबयत का हाल पूछा। मैंने बताया, तब उन्होंने कहा, 'जरा चार कदम चल कर बताएंगे।'

मैंने लंगड़ाते हुए चलकर बताया। उन लोगों ने एक-दूसरे की तरफ देखा। एक ने कहा, 'वेरी गुड, इतने में काम चल जाएगा।' दूसरे ने कहा, 'लेकिन टांग के बाहर कुछ चोट के निशान भी दिखने चाहिए।' तीसरे ने कहा, 'कोई मुश्किल नहीं है। हम हल्के से कुछ घाव बना देंगे। परसाईजी को तकलीफ भी नहीं होगी ऊपर से पट्टी बांध देंगे।'

मैंने कहा, 'आप लोगों की बात मेरे समझ नहीं आ रही।' उन्होंने कहा, 'हम आपसे एक प्रार्थना करने आए हैं। आप जानते हैं कि यह एक ऐतिहासिक चुनाव है। तानाशाही और जनतंत्र में संघर्ष है। इस सरकार ने नागरिक अधिकार छीन लिए हैं। वाणी की स्वतंत्रता छीन ली है। हजारों नागरिकों को बेकसूर जेल में रखा। न्यायपालिका के अधिकार नष्ट किए। जनता पार्टी इस तानाशाही को खत्म करके जनतंत्र की पुन: स्थापना करने के लिए चुनाव लड़ रही है। इस पवित्र कार्य में आपका सहयोग चाहिए।'

मैंने पूछा, 'मैं क्या सहयोग कर सकता हूं? वे बोले, 'हमारा मतलब है आपकी टांग का सहयोग चाहिए।' मैंने आश्चर्य से कहा, 'मेरी टांग? अरे भाई, मैं हूं तो मेरी टांग है।' उन्होंने कहा, 'नहीं, टांग टूटने से उसका अलग व्यक्तित्व हो गया है। बल्कि टूटी टांग ने राष्ट्रीय जीवन में आपको महत्वपूर्ण बना दिया है। हमें अनुमित दीजिए कि हम प्रचार कर दें कि कांग्रेसियों ने आपकी टांग तोड़ दी। इससे सारे देश में कांग्रेस के प्रति वातावरण बनेगा।'

मैंने जवाब दिया, 'मैं यहां झूठा प्रचार नहीं करना चाहता।' एक ने कहा, 'जरा सोचिए- देश के लिए, जनतंत्र के लिए।' दूसरे ने कहा, 'मानव अधिकारों के हेतु। मानव-गरिमा के लिए। आखिर आप समाज-चेता लेखक हैं।' मैंने उनकी बातें नहीं मानी। मुझे मेरी टांग की चिंता थी। मैं किसी को शब्द से भी टांग छूने नहीं देना चाहता था।

शाम को कांग्रेस के दो-तीन लोग आ गए। उन्होंने भी मेरी टांग की जांच की और कहा, 'इससे अपना काम बन जाएगा।' मैंने पूछा, 'बात क्या है?' उन्होंने कहा, 'आपको क्या समझाना! आप स्वयं प्रबुद्ध हैं। इस समय देश का भविष्य संकट में है। यदि जनता पार्टी जीत गई तो देश खंड-खंड हो जाएगा। विकास- कार्य रुक जाएंगे। जनता पार्टी में शामिल दल घोर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी हैं। वे सार्वजनिक क्षेत्र खत्म कर देंगे। इस देश को अमेरिका के पास गिरवी रख देंगे।

मैंने पूछा, 'तो मैं क्या करूं?' उन्होंने कहा, 'आपको कुछ नहीं करना है। करना हमें ही है। कांग्रेस खुद ही सब करती है। तीस सालों से, यहां तक हम हारते भी हैं तो दूसरे से नहीं-कांग्रेस ही कांग्रेस को हराती है। आप हमें इतना छूट दे दें कि हम प्रचार कर सकें कि जनता पार्टी के लोगों ने आपकी टांग तोड़ दी है। इससे जनता इस पार्टी के खिलाफ हो जाएगी।' मैंने उनसे भी कहा, 'मैं अपनी टांग के बारे में यह झूठा प्रचार नहीं होने दूंगा।' एक ने कहा, 'इस देश के लिए।' दूसरे ने कहा, 'सशक्त केन्द्र के लिए।' तीसरे ने कहा, 'प्रगतिशील नीतियों के लिए।' मैं राजी नहीं ह्आ।

दूसरे दिन जनता पार्टी वाले फिर आ गए। उन्होंने छुटते ही पूछा, 'आखिर आपका 'रेट' क्या है?' मैंने क्रोध से कहा, 'मैं क्या रंडी हूं कि मेरा रेट होगा।' उन्होंने कहा, 'हमारा मतलब है कि अपनी टूटी हुई टांग के उपयोग के लिए आप क्या लेंगे? पांच सौ काफी होंगे?' मैंने उन्हें डांटा। वे जाते-जाते कहते गए, 'आपको हमसे असहयोग का फल भोगना पड़ेगा। आपको इस सरकार ने इलाज के लिए रुपए दिए थे। हमारी सरकार बनने पर हम इसकी जांच करवाएंगे और सारा पैसा आपसे वसूल किया जाएगा।'

थोड़ी देर बाद कांग्रेसी फिर आ गए। कहने लगे बड़े शर्म की बात है। आप प्रगतिशील बनते हैं मगर पांच सौ रुपए में अपने को प्रतिक्रियावादियों को बेच दिया। पैसे ही चाहिए तो हमसे हजार ले लीजिए। अभी हमारी सरकार ने आपको काफी रुपए इलाज के लिए दिए। मगर आप इतने अहसान-फरामोश हैं कि हमारे ही खिलाफ हो गए!' मैंने कहा, 'मैं नहीं बिका। मैंने जनता पार्टी की बात नहीं मानी। मैं आपकी बात भी नहीं मान्गा। मेरी टांग किसी का चुनावी पोस्टर नहीं बन सकती।' इतने में जनता पार्टी वाले भी फिर आ गए। उन्हें देख कांग्रेसी चिल्लाए, 'आ गए आप लोग परसाई जी को पांच सौ रुपए में खरीदने के लिए।' जनता वालों ने कहा, 'पांच सौ? इस दो कौड़ी के लेखक को हम पांच सौ देंगे। तुम्ही उसे हजार में खरीदने आए हो।' कांग्रेसियों ने कहा, 'अरे हजार रुपए हम इस कूड़ा लेखक के देंगे।' अब दोनों पार्टी वालों में लड़ाई शुरू हो गई।

पहले वे एक-दूसरे के 'साले' बने। इस रिश्ते के कायम होने से मुझे विश्वास हो गया कि देश में मिली-जुली स्थिर सरकार बन जाएगी। फिर कुछ 'मादर' वगैरह हुआ। इससे लैंगिक नैतिकता का एक मानदंड स्थापित हुआ। फिर मार-पीट हुई। मैंने कहा, 'आप दोनों का काम बिना पैसे खर्च किए हो गया। अब मेरी टांग की जरूरत आपको नहीं है। आपके अपने सर फूटे हुए हैं और नाक से खून बह रहा है। अब प्रचार कीजिए जनतंत्र के लिए, देश के लिए। मैं गवाह बनने को तैयार हूं।'

आपकी बात

संस्कृति की ज़मीन, बदलाव के बीज

रवि सिन्हा

मार्क ट्वेन ने कभी कहा था - धूमपान की आदत छोड़ने में मैं ख़ासा माहिर हूँ; यह काम मैंने हज़ारों बार किया है।सन्धान की यह केवल तीसरी शुरुआत है। वह भी काग़ज़ पर छप कर नहीं। अभी केवल वेब-पेज़ के रूप में। अतः यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि हमलोग शुरुआत करने के विशेषज्ञ हो गए। बल्कि ये मनायें कि इस मामले में ट्वेन सरीखी महारत न हासिल हो। इरादा नयी शुरुआत का और हौसले दूर तक चलने के हों तो फिर से शुरू करने में कोई बुराई नहीं है।

हज़ारों साल पहले एक्लेसियास्टीज़ की किताब में कहा गया था - जो हो चुका है, वही फिर होगा। जो किया जा चुका है, वही फिर किया जायेगा। सूरज के तले कुछ भी नया नहीं है। लेकिन दूसरी तरफ़ हेराक्लिट्स का कहना था - तुम एक ही नदी में दो बार पाँव नहीं रख सकते। पानी हर पल बदल चुका होता है। अगला पाँव नयी नदी में पड़ेगा।बुद्धिमानी शायद इसमें हो कि एक जेब में एक्लेसियास्टीज़ और दूसरी में हेराक्लिट्स को रख कर चला जाय। एक कुछ बिल्कुल नया कर गुज़रने के घमण्ड को क़ाबू में रक्खेगा तो दूसरा नये का सामना करने की हिम्मत देगा। जो हो चुका है वही फिर होगा तो भी कुछ नया होगा। और, उम्मीद है, जो कहा जा चुका है वही फिर से कहा जाय तो भी कुछ नया कहा जायेगा और अर्थ कुछ नये निकलेंगें। समय की उसी नदी में आप दो बार पाँव नहीं रख सकते।

और, इस नदी में त्वरण है। समय के बदलने की रफ़्तार बदल चुकी है। पिछली एक सदी में जितना कुछ हुआ है, उतना पहले के हज़ार सालों में नहीं हुआ था। इन्सानी इतिहास का प्रवाह समय के उबड़-खाबड़ भूगोल से गुज़रा है। थोड़ी देर का समतल थके विजेताओं को उस असीम-अनन्त चरागाह की तरह दिखने लगता है जिसकी खोज में वे पाँच सौ या पाँच हज़ार साल पहले निकले थे। इतिहास के अन्त की घोषणाएँ होती हैं। लेकिन घोषणाओं की समाप्ति के पहले ही समय का समतल समाप्त होने लगता है। आगे कुछ के लिये ख़तरनाक ढलान है तो दूसरों के लिये कठिन चढ़ाई है।

एक समतल हमारा भी है। कुछ भिन्न अर्थों में और कुछ दूसरी तरह का। इसे भारतीय उपमहाद्वीप कह सकते हैं या सभ्यता-संस्कृति का वह मैदानी इलाका जो सिन्धु-घाटी के अतीत से आज के वर्तमान तक फैला है। इसके अन्तर्गत हिन्दी पट्टी का और भी सपाट मैदान है जहाँ बिरले ही कुछ बड़ा घटित होता है। और जब घटित होता है तो संस्कृति के दिक्-काल में प्रकाश-वर्षों की दूरी तक दिखलायी पड़ता है। मध्य-युग के भक्त-किव इस समतल के उतुंग शिखर हैं।

बीसवीं सदी की शुरुआत के किव-कहानीकार और इक्कीसवीं सदी के टेली-धर्मोपदेशक आस-पास की, कम या ज्यादा, गर्वोन्नत पहाड़ियाँ हैं। हिन्दी संस्कृति की सपाटता पिछली शुरुआतों के समय भी हमारी (सन्धान की) फ़िक्रमन्दी का सबब थी और इसी सपाटता का भू-विज्ञान आज भी हमारे सोच-विचार का विषय है।

सपाटता का आरोप अतिरेक लगे या इससे सांस्कृतिक भावनाओं को ठेस पहुँचे तो यह सफ़ाई दी जा सकती है कि हम सब इन्हीं मैदानों के जीव हैं। यह किसी बाहरी का हमला नहीं, अन्दर के लोगों की चिन्ता है। धन और साम्राज्य के लिये तो बाहर से हमले हुए हैं, लेकिन हमारे सभ्यतात्मक-सांस्कृतिक ऐश्वर्य ने शायद ही किसी आक्रमण या अनुकरण को न्यौता दिया हो। हम कहा करते हैं - कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। लेकिन शत्रु श्रीकान्त वर्मा के "कोसल" की तरह युद्ध किये बिना ही लौट जाते हैं। हम सोचते हैं यह हमारी अक्षौहिणी सेनाओं का भय है। कविता में दृत उलझन में है। कहता है -

जो भी हो

जय यह आपकी है।

बधाई हो।

राजस्य प्रा हुआ

आप चक्रवर्ती हुए -

वे सिर्फ़ कुछ प्रश्न छोड़ गए हैं

जैसे कि यह -

कोसल अधिक दिन टिक नहीं सकता

कोसल में विचारों की कमी है।

- श्रीकान्त वर्मा

प्रश्न हमारे लिए भी छूटे हैं। हिन्दी सभ्यता-संस्कृति के बारे में ढेरों प्रश्न अनुत्तरित हैं। ज्ञान-विज्ञान में, सिद्धान्त और विचार में, मानविकी और कलाओं में हमारा क्या योगदान है। इन्सानी तहज़ीब के इतिहास और भूगोल में हमारी अपनी जगह कितनी है। आदिकाल और मध्य-युग के महाकाव्यों के बल पर और हिन्दी-प्रदेश में आधुनिकता के प्रवेश के समय के कुछ साहित्य के सहारे हम एक विशिष्ट और सुव्यक्त संस्कृति होने के दावे कब तक कर सकेंगे। और साहित्य के क्षेत्र में भी आसार अच्छे नहीं हैं। पचास-साठ करोड़ के हिंदी प्रदेश में साहित्यिक कृतियों के पाँच सौ प्रतियों के संस्करण भी बिक नहीं पाते। बाज़ार पर, फूहड़ता पर, पूँजीवाद और वैश्वीकरण पर दोष मढ़कर सन्तोष नहीं किया जा सकता। संस्कृतियों के भूमण्डल में हमारे अपने द्वीप के सिकुड़ते जाने का ख़तरा है। कारण - हिन्दी प्रदेश में विचारों की कमी है।

2

सभ्यताओं के अनेक रूप हैं और उनकी चिरजीविता के अनेक स्रोत। प्रत्येक संस्कृति को अपने आप में सम्पूर्ण जीवन-रूप मानने के इस तथा-कथित उत्तर-आधुनिक समय में सभ्यताओं की तुलना निषिद्ध है। इतिहास और भूगोल में निबद्ध उनके शरीरस्थ रूपों में अन्तर्निहित किसी ऐसे सत्व का सन्धान जो आसव-रूप में गहरे प्रवाहित हो और प्रकट रूपों का अतिक्रमण करता हो, बहुसांस्कृतिकता के आधुनिकोत्तर वैयाकरणों द्वारा अवैध घोषित किया जा चुका है।

विडम्बना यह है कि स्वयं जीवन की भाषा व्याकरण के निषेधों का निषेध करती रहती है। वास्तविक इतिहास में और प्रत्यक्ष जीवन में संस्कृतियों की तुलना उनकी वैश्विक प्रतियोगिता के रूप में चलती रहती है। जिन संस्कृतियों में सपाटता का क्षैतिज बल किसी भी उभार को उठने नहीं देता उनके दिक्-काल में अन्य संस्कृतियों के दूरस्थ शिखर ही दृश्यमान होते हैं। ऐसी सभ्यताओं में पहले के समय में अनुकरण और अनुवाद से काम चलता था। अब वहाँ सपाटता की सैद्धान्तिक व्याख्या है और उसका दार्शनिक पिष्ट-पोषण है। क्षैतिजता के महिमा-मण्डन के इस लोक-लुभावन प्रसंग में क्लासिकीय-रूढ़िवादी वाम-पन्थ और नव-क्लासिकीय-नव-रूढ़िवादी दिक्षण-पन्थ दोनों ही अपने अपने ढंग से शामिल हैं।

बाँयीं तरफ़ सिद्धान्त और विज्ञान के शुरुआती कदमों को इतिहास और सभ्यता के अन्तिम सत्य में ढाल देने का रूढ़िवादी आलस्य है। उन्नीसवीं सदी के सैद्धान्तिक यथार्थ-भेदन और बीसवीं सदी की समय-सापेक्ष उपलब्धियों को काल-निरपेक्ष सत्य के उद्घाटन का और सभ्यता के चरमोत्कर्ष का दर्ज़ा देने का कूढ़मग़ज़ उपक्रम है। सैद्धान्तिक यथार्थ-भेदन को पैना करने और आगे बढ़ाने, अपने समय की प्रकृति पहचानने और भविष्य की उपलब्धियों की नींव रखने की बजाय बीते इतिहास के शिला-लेख लिखने और अपने समय को किसी तरह काट लेने का कामकाजू इरादा है। यह ऐसा वाम-पन्थ है जो दो पैरों पर लँगड़ाता है। सिद्धान्त वाले पैर में रूढ़ि-ग्रस्तता का रोग लगा है और व्यवहार वाले पैर में पाप्लिज़्म का।

दाँयीं तरफ़ सत्य के उद्घाटन और इतिहास के गितशास्त्र के पचड़ों में पड़ने की ज़रूरत और भी कम है। वहाँ इतिहास के अन्त की घोषणाएँ अभी भी हवा में गूँज रहीं हैं। शत्रु अन्तिम रूप से पराजित हो चुका है। ज़रूरत पड़ने पर उसके प्रेत का भय दिखाकर और उसके बिजूखे को दो-चार लगाकर रास्ते की अड़चनों से पार पाया जा सकता है। सभ्यता और संस्कृति के वे समतल मैदान जहाँ मृजन और जिजीविषा की कुछ बौनी फसलें ही बोयी जा सकें, पूँजी के साम्राज्य के चतुर्दिक विस्तार के लिये मुफ़ीद इलाके हैं।

सिद्धान्त, विचार और संस्कृति के विमर्श में बाँयें और दाँयें के बीच एक ऐसा इलाका भी है जो वैचारिक धुँधलके में लिपटा रहता है। उसके बारे में तय करना मुश्किल होता है कि वह बाँयें में आता है या दाँयें में। सम्भवतः दोनों के बीच बाँधा गया सिद्धान्तों और विमर्शों का वह एक ऐसा अकादिमक पुल है जिसपर सारा यातायात बाँयें से दाहिने की ओर प्रवाहित है। वाम इसका प्रस्थान-बिन्दु है और दक्षिण इसका गन्तव्य।

इस इलाके में विचार-पद्धित के अनूठे किरशमें हैं। मसलन ज्ञान-विज्ञान के कुछ सुविधाजनक प्रखण्ड चुनकर उनके उद्गम-स्थलों की पुरालेखीय-पुस्तकालयी खुदायी की जाती है और यह दिखाया जाता है कि किस प्रकार अब के समय में विज्ञान के रूप में स्थापित ये विषय अपने जन्म के समय पूर्वाग्रह, अन्ध-विश्वास, धर्म और सत्ता में लिथड़े हुए थे। फिर निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि विज्ञान और धर्म-परम्परा-लोकसंस्कृति के बीच का विभाजन सत्तासीन शिक्तयों की आधुनिकतावादी परियोजना की विचारधारात्मक रणनीति है। अन्यथा ज्ञान-विज्ञान, धर्म, परम्परा, मान्यताएँ और अन्ध-विश्वास - ये सभी सामान जाति के प्राणी हैं। सबके अपने अपने सत्य हैं। विज्ञान का विशेष दर्ज़ा इस प्रकार सन्देह के घेरे में लाया जाता है। तर्कबुद्धि की आन्तिरिक तर्कसंगित असम्भव बतायी जाती है। ज्ञान को सत्ता का उपकरण मात्र सिद्ध करने के साथ-साथ इस विचार-पद्धित में सत्ता की विराट संरचनाओं - जैसे कि राज्य, वर्ग- संरचना, पूँजी - से ध्यान हटाकर ताकत के उस "माइक्रो-फिज़िक्स" पर केन्द्रित किया जाता है जिसके मुताबिक ताकत सभी सामाजिक सम्बन्धों में तरल पदार्थवत समान रूप से प्रवाहित है।

इसी विचार-पद्धित की एक समानान्तर बहती धारा में भाषा की संरचना में जगत की संरचना को पूर्णरूपेण स्थित बताया जाता है। कर्ता यहाँ भाषा के खेल का खिलाड़ी है, जो भाषा की संरचना का ही उत्पाद या अवयव है। जगत को भाषा-संरचना का तुल्य-रूप सिद्ध कर देने के बाद यहाँ उस संरचना की बखिया किनारे से उधेड़ने की उत्तर-संरचनावादी परियोजना भी है। इस कारण यहाँ संरचना की क्षैतिजता में हाशिये की केन्द्रीयता है।

विचार के इस धुँधलके में इतिहास में न कोई अर्थ है, न उसकी गित के पीछे कोई कार्य-कारण सम्बन्ध। संस्कृति में मूल्यों की किसी व्यवस्था का निवास नहीं है। इन्सानियत का कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है। मुक्ति एक आख्यान है। और, यह महाख्यानों पर अविश्वास का उत्तर-आध्निक य्ग है।

यह सब खेल विश्वविद्यालयों और अकादिमिक संस्थानों तक सीमित रहता तो अधिक चिन्ता की बात नहीं होती। मगर वैचारिक धाराओं का प्रभाव सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन पर पड़ता है। हिन्दी के वैचारिक-सांस्कृतिक जगत में इस प्रभाव के ख़तरे और भी गम्भीर हैं। वैचारिक और सांस्कृतिक नक़ल हमेशा नुकसानदेह होती है, मगर ग़लत और उलझे हुए विचारों की फैशन-परस्ती में नक़ल - वह भी उन लोगों के द्वारा जिनका अपना कोई वैचारिक योगदान

न हो और जिनसे विचारों का निर्वाह न हो पाये - दुहरा नुकसान पहुँचाती है। न तो वह सही विचारों का आयात होने देती है न ही उनके उत्पादन की आन्तरिक प्रक्रिया को बल देती है।

उत्तर-आधुनिक, उत्तर-संरचनावादी विचार-पद्धित के द्वारा आधुनिकता की सारी आलोचना और महीन स्क्रूटिनी के बाद भी मोटा प्रश्न छूटा रहता है - आधुनिकता की लगभग अबाध यात्रा और उसकी कमोबेश निर्विवाद सफलता के पीछे क्या कारण हैं। जैसे सिद्धान्त के कमरे में यथार्थ का हाथी बैठा हो और उसपर किसी की नज़र ही न पड़े। उसी तरह की स्थित उत्तर-उपनिवेशवादी सिद्धान्तकारों की भी है। उपनिवेश-काल इनके लिये मानव-इतिहास का सबसे गहरा प्रसंग है जिसकी छाप उत्तर-औपनिवेशिक देशों से कभी मिटाये न मिटेगी। इन समाजों की सारी प्रक्रियाएँ उपनिवेश-काल के दौरान हमेशा के लिये विकृत और प्रदूषित की जा चुकी हैं। ऐसे सिद्धान्तकारों के कमरों में भी तीसरी दुनिया के मौजूदा यथार्थ का हाथी बैठा है जो उनके सिद्धान्तों की पकड़ से बाहर है।

3

हिन्दी के लिये चिन्ता की बात होनी चाहिये कि यहाँ विचार के नाम पर एक तरफ़ मार्क्सवाद का रूढ़िवादी कैरीकेचर है तो दूसरी तरफ़ उत्तर-उपनिवेशवादी विमर्श की फ़ैशन-परस्त नक़ल है। मात्र प्रतिबद्धता और सरोकार के भोथरे प्रतिमानों के आधार पर न तो युगीन साहित्य की रचना या परख की जा सकती है, न उन्नत संस्कृति के बीज बोये जा सकते हैं। पश्चिम के "प्राच्यवाद" की फूकोल्डियन और उत्तर-संरचनावादी आलोचनाओं के आधार पर जिन उत्तर- उपनिवेशवादी अकादिमकों ने हार्वर्ड, प्रिन्सटन, कोलिम्बया या कैम्ब्रिज में कुर्सियाँ हासिल की हैं उनके आचार्यत्व के अधीन हिन्दी समाज और संस्कृति के वैचारिक प्रतिमान नहीं गढ़े जा सकते।

इस विचार-पद्धित की यदि यथार्थ से चलते-फिरते मुठभेड़ होती भी है तो उससे प्रायः इच्छित निष्कर्ष ही निकाले जाते हैं। सामाजिक आन्दोलनों और सब-आल्टर्न तबकों पर उत्तर- औपनिवेशिक सैद्धान्तिकी का जोर इसका एक प्रमाण है। इन आन्दोलनों की स्वाभाविक बहुविधता एवं बहु-उद्देश्यता को तथा इन तबकों की हितों-आकांक्षाओं और आचार- व्यवहार की अनेक-रूपता को एक ऐसे दर्शन के रथ में नाध लिया जाता है जहाँ अनेकता, बहुलता, शरीरस्थता और अनुभवजन्यता ही जागतिक यथार्थ के सबसे बुनियादी तत्त्व माने जाते हैं।

हाशिये पर धकेल दिये गये लोगों की लड़ाइयाँ वाज़िब और ज़रूरी हैं। लेकिन उनकी सफलता के लिये भी सामाजिक समग्र की सैद्धान्तिक समझ अनिवार्य है। और, यह समझ एक प्रकार की अतिरेकी प्रस्थापनाओं के बरक्स दूसरे प्रकार की अतिरेकी प्रस्थापनाओं के सहारे नहीं प्राप्त की जा सकती। समाज की सभी संरचनाओं को केवल वर्ग-संरचना में ढाल देना अतिसरलीकरण ही नहीं, एक गम्भीर ग़लती भी है। लेकिन इस ग़लती और रूढ़िवादिता को दुरुस्त करने का तरीक़ा

यह नहीं है कि जगत के सभी प्रत्यक्ष रूपों को यथार्थ के ऐसे स्वायत घटकों का दर्ज़ा दे दिया जाय जो एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध और एक दूसरे में सर्वथा अनपचेय (irreducible) हों।

सामाजिक समग्र की पकड़ के लिये जगत और यथार्थ को समझने के प्रकटतः स्थूल लेकिन वस्तुतः बलिष्ठ तरीक़ों पर पहले महारत हासिल करनी होगी। सिद्धान्तों की महीन क़सीदाकारी ऐसी शुरुआत की सही जगह नहीं है। विचार की यात्रा डगमग क़दमों से ही सही, लेकिन स्वयं करनी होगी। पहिये का पुनराविष्कार तो बुद्धिमानी नहीं है। सीखना सभी से होता है। लेकिन नये प्राने सभी पथों पर यात्राएँ अपने पैरों और अपने उद्यम से करनी होती है।

अपने पैरों से यात्रा का अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति का अपना स्वायत ज्ञान-काण्ड होगा। उसके अपने आन्तरिक प्रतिमान होंगें और उनपर आधारित अपनी स्वयंसिद्ध महानता होगी। उदाहरण के लिये, हिन्दी का अभी तक का ज्ञान-काण्ड मुख्यतः साहित्याचार्यों के चिन्तन-मनन-प्रवचन का प्रतिफल रहा है। इन आचार्यों ने सुविधानुसार बहुत कुछ बाहर से लिया है और बहुत कुछ ख़ुद भी गढ़ा है। इसमें कोई दोष नहीं। लेकिन दोष पूरी वैचारिक-सैद्धान्तिक संरचना के बन या न बन पाने में है। ऐसी संरचना उभारने के प्रयास या तो अनुपस्थित हैं या बाहर से उनका ऐसा आयात है जिसके उपरान्त बदल-तराश कर उन्हें अपनी ज़रूरत के मुताबिक बना लेने के कौशल का अभाव है। विडम्बना ये है कि इन आचार्यों के ज्ञान-पराक्रम से अभिभूत हिन्दी के कुछ उत्साही जन उनमें से कुछ को दुनिया के सबसे बड़े इतिहासकारों से बड़ा इतिहासकार, भाषाविज्ञानियों से बड़ा भाषाविज्ञानी, सिद्धांतकारों से बड़ा सिद्धान्तकार और मार्क्स के पाये का युग-द्रष्टा बताते हैं। अपनी विभूतियों पर ऐसा गर्व हिन्दी के लिये हानिकारक हो सकता है।

4

इन पंक्तियों के प्रकाशित होने तक, सम्भव है, भारत शर्मिन्दगी की कुछ और सीढ़ियाँ उतर चुका हो। जिस शर्म से गुजरात का सिर झुकना चाहिए था, पाँच साल पहले उसे दिल्ली की पगड़ी पहना कर राष्ट्रीय गौरव का दर्ज़ा दिया जा चुका है। जैसे लोगों पर सभ्य और उन्नत देशों में मानवता के विरुद्ध अपराध के मुकदमे चलाये जाते हैं वैसे लोग सत्ता के शीर्ष पर स्थापित हैं। अब अंदेशा ये है कि कहीं इनकी अगली जीत लोकतन्त्र के इस भारतीय संस्करण का अन्तिम अध्याय न सिद्ध हो। अगर ऐसा हुआ तो हिन्दी विद्वत्-जनों की छोटी-बड़ी टुकड़ियां राष्ट्रीय विद्वत्-जनों की बड़ी फ़ौज के साथ उस पथ पर सभ्यता-संस्कृति-साहित्य के झाड़ू लगा रहीं होंगीं जिस पथ से गये होंगें महाजन,

यह है उनकी अशर्फ़ी

ये हैं ख़ून के दाग़

ये रहे चिड़िया के डैने यह है उनका निशान महाजन जिस पथ से जाते हैं अपने निशान छोड़ जाते हैं।

- उदय प्रकाश

लेकिन विद्वत्-जनों की एक दूसरी टुकड़ी ऐसी भी होगी जो हर बार की तरह इस बार भी इन महाजनों की लोकप्रियता से आँख चुरा रही होगी। बेशक, ऐसे बुद्धिजीवी और प्रगतिशील जन महाजनी करतूतों का पर्दाफ़ाश साहस के साथ करते रहेंगें। शुबहा इस बात को लेकर है कि वे "लोक" को अपने विश्लेषण के दायरे में लाने का साहस जुटा पायेंगें या नहीं। महाजनों के करतूत महाजनों की प्रकृति के अनुरूप हैं। लेकिन उनकी लोकप्रियता के स्रोत कहाँ पर स्थित हैं?

हो सकता है, ऐसा न भी हो। "स्वतन्त्र" मीडिआ के पराक्रमी पत्रकारों द्वारा इन महाजनों के विजय की पूर्व-घोषणाओं के बावजूद, सम्भव है, जीत न हो पाये। ऐसी दशा में लोक के विवेक का महिमा-मण्डन कुछ आसान तो हो जायेगा। लेकिन प्रश्न फिर भी मौजूद रहेंगें। अपनी करतूतों के बावजूद महाजन लोकप्रिय क्यों हैं?

गणतन्त्र, लोकतन्त्र, पूर्व-आधुनिक खाप पंचायतों और दिल्ली के उत्तर-आधुनिक जनपदों के इस आधुनिक क्षण में, जहाँ पूर्व-आधुनिकता सीधे उत्तर-आधुनिकता में प्रवेश कर रही है, लोक और समुदाय प्रत्येक सत्य और प्रत्येह मूल्य की अन्तिम कसौटी हैं। लोकतन्त्र के राजनैतिक विमर्श और व्यवहार में लोक को वही दर्ज़ा प्राप्त है जो धर्म में ईश्वर को। लोक इतिहास का निर्माता और शासकों का नियन्ता है। अन्तिम कसौटी को तब किस कसौटी पर कसा जाये? बर्तोल्त ब्रेख़्त ने हुक्मरानों पर तंज़ किया था कि उन्हें अपने लिये नयी जनता चुन लेनी चाहिये। यह तंज़ अपने ऊपर वापस लौटे - यह तो अच्छी बात नहीं होगी। क्या इन्क़लाबियों को इन्क़लाब से पहले नयी संस्कृति के बीज बोने पड़ेंगें और लोक की नयी फ़सल उगानी पड़ेगी?

हिटलर और नात्सी प्रकरण का उदहारण घिस चुका है, लेकिन उसकी शैक्षणिक सम्भावनायें रिक्त नहीं हुई हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि हिटलर चुनकर नहीं आया था और उसे लोक-स्वीकार्यता हासिल नहीं थी। नात्सी कुकृत्यों में तत्कालीन जर्मनी का लोक भागीदार था। इतिहास और समाज में लोक की सदैव सहृदय और अनिवार्यतः प्रगतिशील भूमिका के बारे में आश्वस्त रहने के समुचित आधार उपलब्ध नहीं हैं।

लोकचेतना युगचेतना से सम्बद्ध होती है लेकिन उनके बीच अनिवार्यतः एक अन्तराल भी होता है। इतिहास के गतिशास्त्र के जटिल एवं बहु-कारणिक होने के पीछे एक महती भूमिका इस अन्तराल की भी है। सामाजिक ब्रह्माण्ड में वस्तुजगत, मनोजगत और अन्तरवैयक्तिक-साम्बन्धिक जगत अन्तर्गुम्फित होते हैं। सामाजिक संरचनाओं की परस्पर उलझती परतों की समझ इतिहास-निर्माण के व्यावहारिक उपक्रमों के लिये भी ज़रूरी है। ऐसी समझ युगचेतना का हिस्सा पहले बनती है, लोकचेतना का बाद में। युगचेतना का हिस्सा भी वह अंशतः व्यक्त और अंशतः अव्यक्त रूप में बनती है। क्रान्तियों में और अन्य युगान्तरकारी प्रसंगों में युगचेतना से लैस विचारों की और उनके वाहकों की अग्रगामी भूमिका इन्हीं कारणों से बनती है। ऐसी समझ के अभाव में तथा युगचेतना और लोकचेतना के बीच के अन्तराल के कारण असभ्यताओं और दुर्घटनाओं का इतिहास अक्सर दुहराया जाता है।

भारतीय राजनीति की मुख्य धारा में राष्ट्रवाद और पापुलिज़म का ख़तरनाक मिश्रण मौजूद है। अलग-अलग रूपों में और अलग-अलग तरीक़े से दक्षिण-पंथ और वाम-पंथ - दोनों ही इससे ग्रस्त हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने जो गुल खिलाये हैं वे सभी के सामने हैं। दक्षिण-पंथ हमारे विचार का मसला नहीं है, या है तो एक वस्तुगत परिघटना की तरह है जिससे निपटना हमारा कर्तव्य है और हमारे लिये चुनौती है। हमारी चिन्ता और हमारे सरोकार वाम-पंथ की मौजूदा दशा को लेकर हैं। वैचारिक रूढ़ि के साथ-साथ व्यवहारगत पापुलिज़म की जड़ों तक पहुँचना और उनसे निजात पाने के उपाय तलाशना आज की सख़्त ज़रूरत है।

महाजनों की लोकप्रियता से निपटने के राजनैतिक उपाय तो रोज़ाना करने होंगें। लेकिन दैनन्दिन संघर्ष से परे इस लोकप्रियता की जड़ें लोक में और संस्कृति में ढूँढनी होंगीं। ये कशमकश विचार और व्यवहार - दोनों ही क्षेत्रों में चलेगी। इतिहास के गतिशास्त्र की तथा समय, समाज और संस्कृति के बनावट की बलिष्ठ व्यावहारिक समझ हासिल करनी पड़ेगी।

कहने की ज़रूरत नहीं कि यह लम्बा-चौड़ा विषय है। विचारों का पूरा ब्रहमाण्ड इससे बनता है। यह न तो एक लेख में समेटा जा सकता है, न एक पुस्तक में, न एक पुस्तकालय में। उम्मीद है कि सन्धान निरन्तर किसी न किसी रूप में इस विषय से जूझेगा। टिप्पणियों का यह गुच्छा पेश करने के पीछे मन्तव्य यह है कि सन्धान की वैचारिक जद्दोजहद फिर से शुरू हो।

5

गहराई की कगार ख़तरे की लकीर भी होती है। गहरे उतरने की क़ाबिलियत न हो तो कगार पर खेलना समझदारी का सबूत नहीं होता। समय, समाज और मनुष्य की नियति (मनुष्य से मेरा तात्पर्य स्त्री, पुरुष तथा अन्य सभी इन्सानों से हैं) ऐसे विषय हैं जिनकी गहराई का पूरा अनुमान पेशेवर विशेषज्ञों और बहुजानी दार्शनिकों तक को नहीं है। लिहाज़ा, इन टिप्पणियों को दर्ज़ करने से पहले यह चेतावनी ख़ुद के लिये ज़रूरी है। क़ाबिलियत न होने के बावजूद इन विषयों में उतरना तो पड़ेगा ही। फ़र्क ये है कि ज्ञानीजन इनमें अपने सुव्यवस्थित ढंग से उतरते हैं और हमें व्यावहारिक और सहजबुद्धि के तरीक़े अपनाने होंगें।

मनुष्य का समय ब्रह्माण्डिक समय नहीं है। वो ऐतिहासिक समय है। इतिहास की गित ही मनुष्य के समय की प्रकृति निर्धारित करती है। समाज और संस्कृति की संरचनाएँ और उनके बदलाव के क्रम ऐतिहासिक पिरप्रेक्ष्य में ही देखे-समझे जा सकते हैं। अतः इतिहास के प्रवाह-शास्त्र के बारे में कुछ बुनियादी बातों को याद कर लेना ज़रूरी है।

नदी के प्रवाह में बहने वाली मछिलयों के लिये नदी की धारा को मोड़ पाना असम्भव है। इतिहास के प्रवाह में बहने वाले मनुष्यों के लिये इतिहास की धारा को मोड़ पाना मुश्किल तो बहुत है, पर असम्भव नहीं है। मछिलियाँ नदी नहीं बनातीं। मनुष्य इतिहास बनाते हैं। लेकिन अपने ही बनाये इतिहास के सामने वे बेबस भी हैं। निर्माता होने के साथ- साथ वे इतिहास का उत्पाद भी हैं। जैसे अपनी बनावट से बाहर निकल पाना मुश्किल है, वैसे ही इतिहास के प्रवाह से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है। धारा के बाहर से धारा की अभियान्त्रिकी सम्भव नहीं दीखती।

इतिहास के प्रवाह-शास्त्र को समझने में सबसे बड़ी दिक्क़त यहीं से पेश आती है। जो स्वयं प्रवाहित है वह प्रवाह के शास्त्र को कैसे समझे? धारा में बहते हुए धारा को मोड़ने के उपाय कैसे करे? ज्ञानीजनों के कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं जो इस समस्या के सामने घुटने टेक देते हैं। समस्या को ही काल्पनिक या तर्कजनित बताकर उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके मुताबिक मनुष्य का ज्ञान उसकी आन्तरिक बनावट का हिस्सा है। अनुभूति और संस्कृति का ऐसा अन्तर्मुखी उत्पाद है जिसका कोई बाहय नहीं है। अनुभव-जन्य ज्ञान बाहय कसौटी पर कसा नहीं जा सकता और संस्कृति-जन्य ज्ञान संस्कृति-सापेक्ष सत्यों का ही उद्घाटन कर सकता है। अतः वस्तुजगत का वस्तुगत ज्ञान असम्भव है।

इसी के समानान्तर मनुष्य की कर्ता-शक्ति को भी असम्भव बताया जाता है। संस्कृति की संरचना में और इतिहास के प्रवाह में उसका विलयन कर दिया जाता है। कर्ता-शक्ति एक भ्रान्ति है जो मनुष्य के अस्तित्व की शर्तों से अनिवार्यतः उत्पन्न होती है। अस्तित्व स्वयम्भू है और वही सर्वस्व है। उसमें हस्तक्षेप और नये अस्तित्व का सृजन ऐसी भ्रान्तियाँ हैं जो समग्र अस्तित्व का अंग हैं। इतिहास का कोई कर्ता या निर्माता नहीं है। मछलियाँ मुग़ालते में रहती हैं कि उनकी प्रजाति नदी की धारा को मोड सकती है।

प्रत्येक विचार और दर्शन को जगत और जीवन से रू-ब-रू होना ही पड़ता है। और जगत और जीवन का सत्य तो यही है कि इतिहास की धारा में प्रवहमान होने के बावजूद मनुष्य ने धारा में हस्तक्षेप की तरक़ीब निकाली है। समाज और संस्कृति का उत्पाद होने के बावजूद मनुष्य उनमें पूरी तरह घुल नहीं जाता। उसका एक अधिशेष बचता है जो कर्ता-शक्ति के रूप में प्रकट होता है और उन स्थितियों में हस्तक्षेप करता है जिनका वह स्वयं उत्पाद है।

लेकिन मनुष्यता जो करती है, प्रत्येक मनुष्य वहीं नहीं करता। नदी की धार में हर मछली का अपना तैरना है, अपनी मशक्कत, अपनी अठखेलियाँ, और अपने शिकार हैं। इतिहास के प्रवाह में व्यक्ति-रूप मनुष्य की स्थिति भी मिलती-जुलती है। लेकिन फ़र्क़ भी हैं। मनुष्य की चेतना और मछली की चेतना में गुणात्मक भिन्नतायें हैं। प्रकृति का उत्पाद एवं पिरस्थितियों का दास होने के बावजूद प्रत्येक मनुष्य में समझ, सम्प्रेषण, अनुसन्धान, आविष्कार और हस्तक्षेप की शक्ति है। जिन पिरस्थितियों का वह दास है उनमें दख़ल देने की कुव्वत भी उसके पास है। मनुष्य की चेतना उसकी कर्ता-शक्ति को दिशा व निश्चित रूप देती है; उसकी कर्ता-शक्ति उसकी चेतना के विस्तार के लिये ज़मीन मुहैय्या कराती है।

एकल और समग्र के बीच शुद्ध योगफल का सम्बन्ध केवल अंकगणित में सम्भव है। व्यक्ति की चेतना और कर्तृत्व का मनुष्यता की चेतना और कर्तृत्व के साथ सरल योग या सम-विभाजन के रिश्ते नहीं हैं। यूँ तो प्रत्येक व्यक्ति की आय प्रति-व्यक्ति-सकल-राष्ट्रीय-आय के बराबर नहीं होती, लेकिन, कम से कम, इस पद को परिभाषित किया जा सकता है। सकल-राष्ट्रीय-आय में जनसंख्या से भाग देकर इसकी गणना की जा सकती है। प्रति-व्यक्ति-सकल-राष्ट्रीय-चेतना जैसा कोई पद तो परिभाषित भी नहीं किया जा सकता। प्रति-व्यक्ति-सर्वहारा-चेतना उस मजदूर में निवास नहीं करती जो सरकारी दफ़्तर के गेट पर या यूनियन ऑफिस के आँगन में हनुमान की मूर्ति स्थापित करता है। या खाप पंचायतों में बैठकर अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को सज़ा स्नाता है।

मनुष्यता की समग्र कर्ता-शक्ति का मनुष्यों में बराबर बँटवारा यदि सम्भव भी होता और उसके ऐतिहासिक कार्यभार के टुकड़े इकाई मनुष्यों को सौंप दिये जाते, तो भी वास्तविक मनुष्य ज्यादातर ऐसे ही कार्यों में लगा रहता जो उसकी इतिहास-निर्धारित "सेवा-शर्तों" के बाहर हैं। हाइ-माँस का मनुष्य सचेतन तौर पर इतिहास की चाकरी नहीं करता। या यूँ कहें कि ऐसा करने वाले या ऐसा करने का दावा करने वाले गिने-चुने ही होते हैं। इतिहास के प्रवाह-शास्त्र की गुत्थियाँ अनेक हैं। लेकिन उनमें भी यह गुत्थी ख़ासी दिलचस्प और उलझी हुई है। इतिहास से उदासीन मनुष्य उसकी चाकरी से इन्कार करता है। जीने की रोज़ाना जददोजहद में ज़िन्दगी बिताता है। खटता है, खेलता है, शिकार करता और शिकार होता है। लेकिन, इतिहास फिर भी उससे अपना काम करवा लेता है। उसके जाने बग़ैर उससे अपना मकसद साध लेता है।

इतिहास के ऐसे मूर्तिकरण (reification) पर ऐतराज़ किया जा सकता है जिसमें उसे चालबाज़ियों, योजनाओं, मन्तव्यों और गन्तव्यों से लैस किसी प्राणी की तरह पेश किया जाय। दार्शनिक प्रणाली-शास्त्र की ऐसी किसी बहस में पड़ने की बजाय हमारे लिये रूपकों के इस्तेमाल के समय कुछ एहतियात बरतना काफ़ी रहेगा। हमारा ज़ोर सिर्फ़ इस बात पर है कि समय की बनावट और इतिहास का प्रवाह सोचने-समझने के ज़रूरी विषय हैं। रूपकों के सहारे अवास्तविक को वास्तविक और अनुपस्थित को उपस्थित तो न दिखाया जाय, लेकिन इसका उल्टा करने की

दार्शनिक कसरत भी न हो। ऐसे सिद्धान्तों की कमी नहीं है जो इतिहास में प्रवाह नहीं देखते, प्रवाह की कोई दिशा नहीं देखते, बल और गित का, कार्य और कारण का कोई सम्बन्ध नहीं देखते। जब धारा ही नहीं तो धारा को मोड़ने की चुनौती कैसी? वे मनुष्य की कोई नियित नहीं मानते, मानव-जाित का कोई गन्तव्य नहीं स्वीकारते। गुत्थी सुलझाने का यह ऐसा तरीक़ा है जिसमें गुत्थी का अस्तित्व ही नकार दिया जाता है। मूर्तियों के सहारे अनुपस्थित को उपस्थित दिखाना निश्चय ही ठीक नहीं है। लेकिन विमर्शों की जाद्गरी में उपस्थित को अनुपस्थित कर देना भी वाजिब नहीं है।

6

सनद रहे कि इतिहास का कोई नया प्रवाह-शास्त्र यहाँ प्रस्तावित नहीं है। यहाँ वही कहा जायेगा जो पिछले डेढ़ सौ सालों से कहा जाता रहा है। तरह-तरह से कहा जाता रहा है। बेशक, मायने कुछ अलग निकल सकते हैं। दुनिया बदल जाय तो पुरानी बातों में नये अर्थ पैदा होने लगते हैं। मुमिकन है कुछ अर्थ ऐसे भी निकाले जाँय जो लिखते वक्त सोचे भी न गए हों। कहे जाने के बाद हर बात कहने वाले से स्वतन्त्र हो जाती है।

फ़ायरबाख़ पर मार्क्स की ग्यारहवीं थीसिस जगत्प्रसिद्ध है। फ़लसफ़ों में दुनिया को तरह-तरह से समझा गया है, मगर असल मुद्दा तो उसे बदलने का है। कह देने के बाद यह जुमला भी मार्क्स से स्वतन्त्र हो गया। इसके ऐसे इस्तेमाल होने लगे जिसके बारे में मार्क्स ने सपने में भी न सोचा होगा। वजह कि डेढ़ सौ साल बाद कैसे-कैसे इन्क़लाबी पैदा होंगें और दुनिया बदलने को लेकर कैसी-कैसी बहसें होंगीं - यह सब उनके सपने में भी नहीं आया होगा। इतिहास के प्रवाह का सबसे दुरुस्त और सबसे कामयाब शास्त्र लिखने वाले शख़्स के लिये भी इतिहास की सटीक भविष्यवाणी सम्भव नहीं थी।

भविष्यवाणी इतिहास के प्रवाह-शास्त्र का मक़सद नहीं है। जिसकी भविष्यवाणी की जा सके वह और कुछ भले ही हो, मनुष्य का इतिहास नहीं हो सकता। कुछ फ़लसफ़े ऐसे भी हैं जो भविष्यवाणी को विज्ञान की शर्त मानते हैं। जो भविष्यवाणी न कर सके वह विज्ञान नहीं। मार्क्सवाद से चिढ़ने वाले दार्शनिक इस दलील के सहारे उसके विज्ञान न होने के सबूत पेश करते हैं। उसे विज्ञान समझने वालों की खिल्ली उड़ाते हैं। दूसरी तरफ़ ऐसे मार्क्सवादियों की बहुतायत है जिन्हें इस बात से ठेस पहुँचती है और वे अनाप-शनाप दलील देने लगते हैं। मसलन, क्या मार्क्सवाद ने यह भविष्यवाणी नहीं की है कि पूँजीवाद के बाद समाजवाद आयेगा? या, माओ की सुनें तो, सामन्तवाद के बाद "नया जनवाद" आएगा? कुछ तो इस भविष्यवाणी को इतना पुख़्ता समझते हैं कि अगर "नया जनवाद" नहीं आया तो इसे सामन्तवाद के जारी रहने का सबूत मानते हैं।

बहस इस बात पर नहीं है कि पूँजीवाद के युग के उपरान्त इतिहास समाजवाद के दौर में प्रवेश करेगा। या यूँ कहें कि ऐसी बहस उन्हीं हल्क़ों में है जहाँ समाजवाद के बीसवीं सदी के प्रयोगों को उसके शास्त्रीय मॉडल के रूप में पेश किया जाता है और उनके अंत को समाजवाद का का अंत बताया जाता है। यह एक अलग विषय है जो अलग चर्चा की माँग करेगा। फ़िलहाल हमारा ताल्लुक़ इस बात से है कि इतिहास का कैसा सिद्धान्त सम्भव है और वह इतिहास की कैसी भविष्यवाणी कर सकता है।

इतिहास के प्रवाह को बहुत नज़दीक से देखें - रोज़-ब-रोज़ की ज़िन्दगी के स्तर पर देखें - तो वह प्रवाह के रूप में दिखेगा ही नहीं। वह चौतरफ़ा पसरी हुई ज़िन्दगी की शक्ल में दिखेगा। लगभग स्थिर और स्थायी सामाजिक ब्रहमाण्ड के रूप में दिखेगा। चौड़े पाट वाले समवेग प्रवाह में प्रवाहित प्राणी को गति का बोध नहीं होता। या होता है तो जलप्रपात के मुहाने पर पहुँच कर होता है।

पहले ही चर्चा हो चुकी है कि सभी इतिहास में प्रवाहित हैं और बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है। किनारे खड़े होकर प्रवाह को नहीं देखा जा सकता। लेकिन इतिहास का सिद्धान्त फिर भी रचा जा सकता है। कारण, बीत चुका इतिहास हमारी बौद्धिक नज़रों के सामने होता है। जो दिखायी दे - सीमित अर्थों में ही दिखायी दे - उसका सिद्धान्त रचा जा सकता है। लेकिन इतिहास के बड़े काल-खण्ड और उसके प्रवाह के बड़े मोड़-घुमाव ही हमें दिखायी पड़ते हैं। जो नज़दीक से दिखायी दे वह इतिहास की गति नहीं, ज़िन्दगी का फैलाव है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसे प्रेक्षण के आधार पर रचा गया इतिहास-सिद्धान्त वृहद कालाविध का ही सिद्धान्त हो सकता है। सोलहवीं सदी की रोज़ाना ज़िन्दगी हमें दिखायी नहीं पड़ती। इतिहास के सिद्धान्त के लिये इतने बारीक प्रेक्षण की ज़रूरत भी नहीं है। लेकिन सोलहवीं सदी से अब तक की पाँच सदियों का बहाव मोटे तौर पर देखा जा सकता है। इतिहास के सिद्धान्त-निर्माण के लिये कच्चा माल इसी पैमाने के अवलोकन से मिलता है।

ज़िहर है कि इतिहास का ऐसा सिद्धान्त उसके अगले चरण की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है। यह उसके अधिकार-क्षेत्र के अन्दर है। लेकिन वह आने वाले दिनों, महीनों या वर्षों में जो सब घटित होगा उसकी भविष्यवाणी नहीं कर सकता। प्रश्न यह है कि "किलयुग के बाद फिर सतयुग आएगा" की तर्ज़ पर की गयी भविष्यवाणियों को विज्ञान-सम्मत भविष्यवाणी का दर्ज़ा दिया जा सकता है या नहीं। उदहारण के लिये, समाजवाद की भविष्यवाणी को कैसे समझें? अगर अपेक्षा यह है कि समाजवाद कब, कहाँ और किस रूप में आयेगा - यह बताया जा सके, तो इस कसौटी पर इतिहास का सिद्धान्त खरा नहीं उतर सकता। मार्क्सवाद इस बात की भविष्यवाणी नहीं करता कि अगला इन्क़लाब कब और किस देश में आयेगा। ऐसी भविष्यवाणी किसी के लिये सम्भव नहीं है।

वस्तुजगत के ऐसे प्रखण्ड हैं जहाँ विज्ञान सटीक भविष्यवाणियाँ कर सकता है। मगर यह यथार्थ के सभी प्रखण्डों के लिये सच नहीं है। भविष्यवाणी की सामर्थ्य विज्ञान की अनिवार्य शर्त नहीं है। प्राकृतिक विज्ञान तक के कई हिस्से ऐसे हैं जहाँ भविष्यवाणी सम्भव नहीं है। जटिल-जैविक संरचनायें इसका एक उदाहरण हैं। उनकी गति और उनका विकास उनकी आन्तरिक प्रक्रियाओं पर तथा "संरचना"और "पर्यावरण" के परस्पर सम्बन्धों पर इतने नाज़ुक ढंग से मुनहसर हैं कि कार्य-कारण सम्बन्धों की एवं भविष्य के विकास-क्रम की बारीक एवं सटीक गणना असम्भव है। इसके बावजूद जटिल एवं जैविक संरचनाओं का विज्ञान है और अद्भुत रूप से सफल है। इतिहास का उदाहरण आये तो "संरचना" और "पर्यावरण" सम्बन्धी जटिलताओं के साथ-साथ मनुष्य की कर्ता-शक्ति और उसके हस्तक्षेप अतिरिक्त जटिलता पैदा करते हैं। यह हस्तक्षेप आन्तरिक प्रक्रियाओं को बदलता है और नयी प्रक्रियाओं को जन्म देता है। इससे "संरचना" के "पर्यावरण" की गोद में बैठने के नये विधान उभर सकते हैं। यहाँ भविष्य के विकास-क्रम की सटीक गणना और भी असम्भव है। लेकिन इससे इतिहास के प्रवाह-शास्त्र की सम्भावना ख़ारिज नहीं हो जाती।

यथार्थ के ऐसे प्रखण्डों में, जहाँ सटीक भविष्यवाणी में समर्थ यान्त्रिक विज्ञान सम्भव नहीं है, नये यथार्थ रचने की सुनिश्चित अभियान्त्रिकी भी सम्भव नहीं होती। यहाँ प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप भर किया जा सकता है। और ऐसे हस्तक्षेप के परिणामों की भी सटीक गणना नहीं की जा सकती। अतीत में इतिहास के प्रवाह को देखते हुए और वर्तमान की परिस्थितियों के मुताबिक ये अन्दाज़े लगाये जा सकते हैं कि किस प्रकार के हस्तक्षेप से किस प्रकार की प्रक्रियायें शुरू हो सकती हैं तथा उनके कैसे परिणाम निकल सकते हैं। चूँकि प्रक्रियायें आपस में जटिल रूप में अन्तर्गुम्फित हैं और उनसे उभरने वाली तथा उनपर आधारित सम्पूर्ण संरचना पर बाहर से पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है, अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि इतिहास-निर्माण की सटीक एवं सुनिश्चित अभियान्त्रिकी उपलब्ध नहीं है।

मानव इतिहास और समाज के सन्दर्भ में सिद्धान्त और व्यवहार के द्वन्द्व को इस पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। इस द्वन्द्व की ठीक समझ न होने से क्रान्तियों की बनावट, उनके शास्त्र और उनकी रणनीति के बारे में भी ग़लत समझदारियाँ पैदा होती हैं। मार्क्स की ग्यारहवीं थीसिस की ग़लत व्याख्याओं की जड़ में भी सिद्धान्त और व्यवहार के परस्पर सम्बन्धों की ग़लत समझदारी है।

7

जीवन गहरा है, लेकिन जीते हम सतह पर हैं। मनुष्य की रोज़ाना ज़िन्दगी इस सतह का निर्माण करती है और इसे परिभाषित करती है। सतह पर उछल-कूद बहुत है। यहाँ अनिगनत मनुष्यों के बेतरतीब हस्तक्षेप हैं। ज़िन्दगी मनुष्य से रोज़-रोज़ के स्तर पर जो कुछ करवाती है उसके कुछ नियम हैं। इन नियमों से व्यवस्थायें बनती हैं, सामाजिक संरचनायें परिभाषित होती

हैं। लेकिन नियमबद्धता के बावजूद प्रत्येक मनुष्य के पास कर्तृत्व और हस्तक्षेप की कुछ शक्ति भी है। व्यक्ति के स्तर पर आवंदित यह कर्ता-शक्ति सीमित और अणु-स्तरीय है। इसके एक बड़े भाग के व्यवस्था और संरचना में नाध लिये जाने के बाद भी एक अधिशेष बचता है। इस अधिशेष कर्ता-शक्ति के अनगिनत अणु-रूप सतह पर हलचल मचाये रहते हैं। सतह पर कोई व्यवस्थित और नियमबद्ध लहर नहीं होती। जीवन का यह स्तर हमेशा अशान्त और विक्षुब्ध होता है। इस हलचल का प्रसार व्यापक लेकिन आकृति स्थानीय, छोटी और अस्त-व्यस्त होती है। बिरले ही यह किसी लहर का रूप लेती है। इस अशान्त और बेतरतीब सतह का कोई गतिशास्त्र प्रतिपादित कर पाना असम्भव कार्य है।

यहाँ शायद यह सफ़ाई देने की ज़रूरत हो कि ज़िन्दगी की सतह से हमारा तात्पर्य सतही ज़िन्दगी का आरोप लगाने का नहीं है। हमारा मतलब यह भी नहीं है कि आम लोग तो सतही ज़िन्दगी जीते हैं और ख़ास लोग गहराई में जीते हैं। जीते सभी सतह पर हैं। जो विशिष्टजन राजधानियों में सत्तासीन होकर व्यवस्थायें चलाते हैं, हार्वर्ड या कोलिम्बिआ में जीवन के गहरे तलों का गितशास्त्र ढूँढते हैं, या कहीं और बैठकर आध्यात्मिक गहराइयों के गोते लगाते हैं, वे सभी जीते सतह पर ही हैं। व्यक्ति का जीवन - चाहे वह आम का हो या ख़ास का - जीवन की सतह परिभाषित करता है और वहीं व्यतीत होता है।

अगर जीने से जीवन की सतह भर बनती है तो जीवन के गहरा होने से हमारा क्या तात्पर्य है? सतह के नीचे की परतें क्या हैं और कहाँ से आती हैं? इन सवालों के मुकम्मिल जवाब दे पाना तो मुश्किल है। लेकिन जीवन की गहराई को और उसके अनेक परतों वाले यथार्थ को उदाहरणों और रूपकों के सहारे समझने की कोशिश की जा सकती है।

मनुष्य के जीने से समाज बनता है। और समाज वापिस मनुष्य के जीवन की पूर्व-शर्त बन जाता है। लेकिन समाज केवल सतह नहीं है। वह केवल रोज़ाना की ज़िन्दगी से नहीं बनता। उसके अन्दर कम या ज़्यादा गहरी परतें हैं, व्यक्त या अव्यक्त संरचनायें हैं, स्थूल या सूक्ष्म नियम हैं, और कार्य-कारण सम्बन्धों के कम या अधिक स्थायित्व वाले सन्तुलन हैं। अन्तर्भूत संरचनाओं के स्तर पर देखें तो मनुष्य समाज के निमित्त के रूप में दिखायी पड़ता है। वह अव्यक्त संरचनाओं को व्यक्त रूप देता है। एक तरह से हाइ-माँस का मनुष्य उन कोशिकाओं की तरह है जिनसे समाज का शरीर बनता है। आज मेरे शरीर में जो पदार्थ कोशिकाओं के रूप में है उनका कोई भी अणु-परमाणु दो-तीन वर्षों बाद मेरे शरीर में नहीं बचेगा। उनकी जगह नयी कोशिकायें आ चुकी होंगीं। लेकिन मेरा शरीर, कुछ मामूली बदलावों के साथ, उसी रूप-गुण के साथ रहेगा जो मेरे व्यक्ति-रूप पहचान का आधार है। ऐसा इसिलये है कि शरीर के पदार्थ और उसकी कोशिकाओं के पीछे एक अमूर्त सी संरचना है। पदार्थ के नये अणु-परमाणु उस संरचना के पुराने अणु-परमाणुओं को विस्थापित करते रहते हैं, लेकिन संरचना वही रहती है। शरीर के गुण संरचना से तय होते हैं। समाज की भी संरचना है और मनुष्य-रूप पदार्थ उस संरचना को व्यक्त

रूप देता है। इसीलिये कुछ पीढ़ियों के बाद जब आज का एक भी व्यक्ति जीवित नहीं बचेगा, कुछ बदलावों के साथ, समाज लगभग वैसा ही बना रहेगा।

प्रत्येक रूपक की सीमायें होती हैं। कोशिकाओं वाले रूपक की भी सीमायें हैं। मसलन, शरीर की कोशिकाओं के पास कर्ता-शिक्त नहीं है। कोशिकायें अपना मन नहीं बदलतीं और आज कुछ नया करने की नहीं सोचतीं। लेकिन समाज का कोशिका-रूप मनुष्य कर्ता-शिक्त से सम्पन्न है। बेशक यह कर्ता-शिक्त पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं है। यह प्रकृति और समाज का संयुक्त उत्पाद है और उनके नियमों के अधीन है। लेकिन, उत्पाद होने बावजूद, वह प्रकृति और समाज दोनों में हस्तक्षेप कर सकती है। यह कर्ता-शिक्त प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती, लेकिन उन्हीं नियमों के इस्तेमाल से ऐसी चीज़ें कर सकती है जो मनुष्य-रिहत प्रकृति के लिये अपने-आप करना सम्भव नहीं होता। उसी तरह यह कर्ता-शिक्त अधिकांशतः सामाजिक संरचनाओं में नाध ली जाती है, लेकिन फिर भी उसका एक अधिशेष बचता है जो इन संरचनाओं में हस्तक्षेप करता है।

मन्ष्य की कर्ता-शक्ति दर्शन की सबसे प्रानी पहेलियों में से है जो अब विज्ञान के लिए भी चुनौती है। जो नियमों और संरचनाओं का उत्पाद है वह उन्हीं नियमों और संरचनाओं में हस्तक्षेप कैसे कर सकता है? कर्ता-शक्ति मन्ष्य की बनावट का एक ऐसा आविर्भूत ग्ण (emergent property) है जिसे उस बनावट के अवयवों में अपचयित नहीं किया जा सकता। महत्त्व की बात सम्भवतः ये है कि मनुष्य प्रकृति द्वारा रचित है और समाज द्वारा भी। उसकी बनावट का यह द्वैत उसकी कर्ता-शक्ति को सम्भव बनाने का प्रमुख स्रोत प्रतीत होता है। समाज द्वारा संरचित मनुष्य पूरी तरह समाज द्वारा रचित नहीं है। यहाँ एक अधिशेष भी है जिसकी जड़ प्रकृति में है और जो शरीर के उत्पाद के रूप में प्रकट होता है। यह अधिशेष सामाजिक संरचना में विलयित-संलयित नहीं होता और समाज के स्तर पर कर्ता-शक्ति के रूप में प्रकट होता है। दूसरी तरफ़ मनुष्य की सामाजिक संरचना प्रकृति-सापेक्ष अधिशेष का स्रोत है। सामाजिक मनुष्य ज्ञान और व्यवहार के योग से प्रकृति के नियमों का उल्लंघन किये बिना प्रकृति में हस्तक्षेप करता है। उन नियमों का इस्तेमाल ऐसे कामों के लिये करता है जिन्हें प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती थी। यह तब सम्भव नहीं था जब मनुष्य की प्रजाति ने पशुजगत से बहिर्गमन नहीं किया था। कामचलाऊ ढंग से समझा जाय तो समाज में हस्तक्षेप करने वाली कर्ता-शक्ति प्रकृति-जन्य अधिशेष के कारण है, और प्रकृति में हस्तक्षेप की प्रभावी शक्ति मन्ष्य के समाज के रूप में गठित होने के बाद ही आती है।

व्यक्ति-रूप कर्ता द्वारा पैदा की गयी अनियन्त्रित हलचल के अलावा सतह की गित सामाजिक संरचना की गहरी परतों की गित से भी जुड़ी हुई है। सतह पर बड़ी लहरें भी आती हैं जिनका उद्गम सामाजिक संरचना की गहराइयों में होता है। संरचनागत बल सतह की गित को पूरी तरह निर्धारित तो नहीं करते, लेकिन इन बड़ी लहरों को अवश्य निर्धारित करते हैं। व्यक्ति-रूप कर्ता- शक्ति अपने एकल हस्तक्षेपों से इन बड़ी लहरों को प्रभावित नहीं कर सकती। उद्वेलित सतह पर भी वह अपनी आम उछल-कूद ही मचाये रखती है।

इसके बावजूद संरचना की गहरी परतों में हस्तक्षेप किया जा सकता है। सतह और गहराई को जोड़ने वाली प्रक्रियाओं के चलते यह सम्भव होता है। ग्यारहवीं थीसिस में जब दुनिया बदलने की बात की गयी थी तब मतलब अन्दरूनी परतों पर ऐसे उद्वेलन पैदा करने से था जिनसे सामाजिक समग्र में बड़े बदलाव लाये जा सकें। ऐसे उद्वेलन और ऐसे बदलाव की दो पूर्व-शर्तें स्पष्ट हैं।

एक तो यह कि सतह की गतिकी और गहरी परतों की गतिकी के अन्तर्सम्बन्धों की जानकारी होनी चाहिये। ऐसे हस्तक्षेप जो किये तो सतह पर जाँय लेकिन प्रभावित गहरी परतों को करें - इस जानकारी के आधार पर ही संयोजित किये जा सकते हैं। व्यक्ति-रूप कर्ता की सतह पर उछल-कूद से इतर ऐसे हस्तक्षेप उन सुनियोजित प्रक्रियाओं और बलों को जन्म देते हैं जो सतह से गहरी परतों तक की यात्रा करते हैं।

दूसरी शर्त है ऐसे हस्तक्षेप के लिये सामूहिक कर्ता का गठन। अन्दरूनी परतों की गित का ज्ञान हो तब भी व्यक्ति-रूप कर्ता के अकेले या अनियोजित उद्यम से ऐसा हस्तक्षेप सम्भव नहीं है। ऐसे सामूहिक कर्ता का गठन और उसके द्वारा ऐसा हस्तक्षेप जो सामाजिक संरचनाओं में गहरे बदलाव की प्रक्रियायें चालू कर सके - इन दोनों का योग क्रान्तिकारी व्यवहार कहलाता है।

8

ग्यारहवीं थीसिस में क्रान्तिकारी व्यवहार पर ज़ोर है। लेकिन सिद्धान्त का निषेध नहीं है। क्रान्तिकारी व्यवहार सामाजिक संरचना की सही समझ पर निर्भर है। लेनिन की प्रसिद्ध उक्ति - क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्भव नहीं है - इसी सच्चाई को रेखांकित करती है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों जगत में संलिप्त हैं। वामपन्थ में सिद्धान्त को जगत से निर्लिप्त समझने की या उसे रूढ़ि बना देने की प्रवृत्ति आम है। दूसरी तरफ़ हर प्रकार के कर्म को व्यवहार का दर्ज़ा दे दिया जाता है। दोनों ही समस्यायें हैं।

जिन सिद्धान्तों से हमारा सरोकार है वे सभी जगत के बारे में हैं। लेकिन जगत से उनका सम्बन्ध धुँधलके में लिपटा रहता है। ज्ञानशास्त्र की उलझनें अनेक हैं। ज्ञान जगत के बारे में भले ही हो, स्थित वह मनुष्य की चेतना में है। और चेतना की सीमायें हैं। जगत के सारे तथ्य और वहाँ की सारी सूचनायें चेतना तक नहीं पहुँचती। ऊपर से चेतना की अपनी बनावट है जो जगत से आने वाली सूचनाओं को हू-ब-हू ग्रहण करने में बाधा बनती है। तथ्यों के अर्थापन और उन्हें संसाधित (process) करने के दौरान उनमें अपना रंग भी घोल देना इस बनावट का अनिवार्य अंग है। आंशिक सूचनाओं तथा उनकी ऐसी प्रोसेसिंग के आधार पर जगत का जो चित्र

चेतना बनाती है और उसके जो सिध्दान्त गढ़ती है वे किस हद तक सही और विश्वास-योग्य हो सकते हैं?

बात तब और बिगइती दिखायी पड़ती है जब हम इस हक़ीक़त से रू-ब-रू होते हैं कि मनुष्य की चेतना के अतिरिक्त प्रकृति में ग़लती का कोई और स्रोत या स्थान नहीं है। अचेत प्रकृति में तो सब कुछ प्रकृति के नियमों के अधीन होता ही है, पशु-जगत में भी ग़लती का कोई स्थान नहीं। आस्था और विश्वास की - जिसमें अन्धविश्वास भी शामिल है - एकमात्र जगह मनुष्य की चेतना है। आस्तिक बैल या अन्धविश्वासी घोड़े कहीं नहीं पाये जाते।

दूसरी तरफ़ व्यवहार और जगत का सम्बन्ध रौशनी के दायरे में है। पारदर्शी तो वह भी नहीं है लेकिन सिद्धान्त की तुलना में व्यवहार के फल आसानी से देखे जा सकते हैं। बीज डालने से फ़सल उग आती है। फ़सल काटने की मंशा से बीज डालना मनुष्य का व्यवहार है। चेतना-सम्पन्न कर्ता का जगत में हस्तक्षेप है। लेकिन अगर यह जानना हो कि बीज से पौधा निकलता क्यों है तो जैविक संरचनाओं के विज्ञान की ज़रूरत पड़ेगी। इस विज्ञान में ऐसे पदों और अवधारणाओं की आवश्यकता होती है जिनके बीज या पौधे से सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं हैं। यही नहीं, ज्ञान की एक तह पर स्थित "क्यों" के उत्तर जैसे ही हासिल किये जाते हैं, अगली तह के "क्यों" सामने खड़े दिखायी देते हैं। "व्यवहार" की तरफ़दारी यहीं से पैदा होती है। फ़सल काटने से मतलब है तो बीज डालना क़ाफ़ी है।

मगर यह कैसे नज़रअन्दाज़ करें कि जैविक संरचनाओं के विज्ञान के बाद के सौ सालों में फ़सल उगाने को लेकर जो तरक़्क़ी आयी है वैसी पहले के दस हज़ार सालों में नहीं आयी थी। अभी इस बहस को छोड़ दें कि जेनेटिक्स के अस्तित्व में आने के बाद बीजों और फ़सलों के बदल दिये जाने का और जैविक पर्यावरण में असन्तुलन का ख़तरा भी पैदा हुआ है। प्रकृति में नुकसानदेह हस्तक्षेप के ख़तरे विज्ञान ने पैदा तो किये हैं, लेकिन इस वजह से विज्ञान को तिलांजिल देकर दस हज़ार साल पुराने व्यवहार पर वापिस जाना सम्भव नहीं है। जैसा कि वाल्टेयर ने रूसो को लिखा था - चौपाया चलने की आदत मानव-जाति के बचपन में छूट गयी। अब दो पैरों पर चलने का कोई विकल्प नहीं है।

बहरहाल, मसला यहाँ यह है कि व्यवहार प्रत्यक्ष है। ज्ञान और विज्ञान अप्रत्यक्ष हैं। व्यवहार के नतीज़े जगत में प्रकट होते हैं। ज्ञान का रसायन मनुष्य की चेतना में पकाया जाता है। उसमें जगत और चेतना दोनों की मिलावट होती है। मुश्किल यह भी है कि जगत का समग्र चेतना को उपलब्ध नहीं है। वह चालाकी और सूझ-बूझ से जगत का ज्ञान हासिल करती है - जितना उपलब्ध है उसी से काम चलाती है। बचाव इससे है कि वह इस ज्ञान को जगत की कसौटी पर जाँचती-परखती रहती है।

अभियान्त्रिकी विज्ञान से पैदा होती है। विज्ञान ज्ञान का हिस्सा है। ज्ञान सिद्धान्त- सम्पन्न होता है। मगर हर सिद्धान्त ज्ञान नहीं होता। सिद्धान्त को जगत की कसौटी पर खरा उतरना होता है। सही सिद्धान्तों से नये व्यवहार की सम्भावना पैदा होती है, नये नतीज़ों तक पहुँचने का रास्ता खुलता है। धारा को मोड़ने की अभियान्त्रिकी इतिहास के प्रवाह-शास्त्र को समझने के बाद ही सम्भव है।

हैरत की बात है कि इन्क़लाबियों के कुनबे में उस किसान विवेक का दबदबा है जो दस हज़ार साल तक अनुभव और व्यवहार के सहारे फ़सलें उगाता रहा। व्यवहार की प्रत्यक्षता के कायल विज्ञान की अप्रत्यक्षता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और प्रायः सिद्धान्त को जगत से असम्बद्ध समझते हैं। इतिहास की धारा को मोड़ देने का दावा करने वाले उसके विज्ञान और उसकी अभियान्त्रिकी से लगभग अनिभिज्ञ हैं। धारा में उछल-कूद को वे व्यवहार का दर्ज़ा देते हैं। और ऐसे व्यवहार को वे दुनिया बदलने मूलमन्त्र समझते हैं। मार्क्स ने सपने में भी नहीं सोचा होगा कि उनकी ग्यारहवीं थीसिस का यह हश्र होगा। वामपन्थ में भी विचारों की कमी है।

(रिव सिन्हा विगत चार दशकों से वामपंथी और प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहे हैं। एक सैद्धांतिक भौतिकीविद (theoretical physicist) के तौर पर प्रशिक्षित रिव सिन्हा ने अपनी पीएचडी MIT से हासिल की है। यह लेख काफिला से साभार है।) सबकी बात

जनादेश 1

मोदी को मिला जनादेश महज धर्मांधता से नहीं तौला जा सकता

महमूद फ़ारुकी

हम में से कई को ऐसा महसूस हो रहा है गोया इन चुनाव नतीजों के साथ यह देश अपने तमाम लोगों सिहत किसी अंधेरी और भयावह सुरंग में से गुज़र रहा हो। 2014 की गर्मियों में भी कुछ ऐसे ही कयामत के दिन का सा अहसास हुआ था। इस आशंका से इनकार करना मुश्किल है कि 2019 की ये गर्मियां एक ऐसी सत्ता की आमद का गवाह हैं जिसे शायद अब कभी पलटा न जा सके। बेशक यह संदेह ही अपने आप में हताशा से भर देता है क्योंकि बीते पांच साल बहुत से लोगों के लिए तबाही लेकर आए। यह बात अलग है कि जिन्होंने नरेंद्र मोदी को वोट दिया था, उनके दिन भी दुश्कर ही रहे। फिर भी उन्होंने दोबारा मोदी को वोट दिया।

हमें इसका अंदाजा पहले हो जाना चाहिए था। यह लगातार तीसरी बार है जब उत्तर प्रदेश ने सबको चौंकाया है। एक बार चौंकना बदिकस्मती हो सकती है, दोबारा चौंकना आपकी कमज़ोरी को दिखाता है लेकिन तीसरी बार भी वही हो तो इसका मतलब साफ़ है कि आप किसी ख्शफ़हमी में जी रहे हैं।

वैसे मोदी की लोकप्रियता की खबरों से हम अछूते नहीं थे। रिपोर्ट दर रिपोर्ट बता रही थी कि मोदी अब भी बेहद लोकप्रिय हैं। खासकर सुप्रिया शर्मा और संकर्षण ठाकुर की रिपोर्ट याद आती है। कई मतदाताओं ने माना कि उनकी हालत ठीक नहीं है- नौकरिया नहीं हैं और नोटबंदी से उन्हें चोट पहुंची है, फिर भी वे मोदी को एक और मौका देने के हक़ में थे।

मोदी की नीतिगत नाकामियों को स्वीकार करने के बावजूद कई लोगों ने उन्हें वोट दिया। कुछ ने तो इसलिए कि उन्होंने देश की हिफ़ाज़त की है। कुछ और ने इसलिए वोट दिया कि उन्होंने दुनिया में देश का सिर ऊंचा किया है। कुछ लोग उन्हें बहुत मेहनती और ईमानदार मानकर वोट किए। कुछ ने इसलिए वोट दिया कि मोदी के सामने कोई विकल्प नहीं था। कई लोगों ने मोदी को एक ऐसा नेता मानकर वोट दिया जिसमें उनका वाकई भरोसा था कि वह देश के लिए कुछ अच्छा कर रहा है और ऐसा ही करता रहेगा। उन्होंने एक ऐसे नेता को वोट दिया था जिसके बारे में उनका खयाल था कि उसे एक और मौका दिया जाना चाहिए।

इस जनादेश की व्याख्या को केवल नफ़रत या धर्मांधता के हवाले नहीं छोड़ा जा सकता। इसका मतलब यह नहीं कि मैं हिंदू-मुस्लिम के सवाल पर पैदा हुए तीखे ध्रुवीकरण की बात को नकार रहा हूं। मैं बस यह मानता हूं कि इतने भर से उनको मिले भारी समर्थन की व्याख्या मुमिकन नहीं है। अगर वाकई ऐसे लोगों की संख्या बड़ी है जो मोदी को केवल इसिलए समर्थन दे रहे थे कि उन्होंने "एक बिरादरी को उसकी औकात बता दी है", तो वे कम से कम खुलकर ऐसा कह नहीं रहे थे। और वैसे भी हमें कोई हक नहीं कि हम उन करोड़ों लोगों की मंशा पर शक करें और उन्हें किसी खांचे में बांट दें जिन्होंने मोदी और उनकी सरकार का समर्थन किया है।

विकल्पों का क्या?

मतदाताओं के सामने विकल्प के सवाल का क्या किया जाए? योगेंद्र यादव सही कह रहे थे कि यह जनादेश दरअसल सरकार से असंतोष और विकल्प के प्रति अविश्वास के बीच कहीं अवस्थित है।

कुछ लोगों को राहुल गांधी उभरते हुए एक नेता की तरह दिखे। कम से कम हिंदी पट्टी के मतदाताओं ने तो उन्हें एक सिरे से खारिज कर दिया है। इसका मतलब क्या यह लगाया जाए कि उन्होंने कायदे से लड़ाई लड़ी नहीं? नहीं, इसके उलट ऐसा लगता है कि वे अपनी क्षमता से कहीं ज्यादा लड़े। बीजेपी सरकार को सामने से चुनौती सबसे पहले उन्होंने ही दी थी और अंत तक मोर्चे पर डटे रहे। वे सही मायने में जंगजू की तरह लड़े। ये बात अलग है कि इस चुनाव ने जिस तरीके से मोदी के पक्ष में करवट ली, राहुल गांधी का कहा-किया सब पूरी तरह बेकार जान पड़ता है। वे यूपी और दिल्ली में गठबंधन कर सकते थे लेकिन कई सीटों पर इस गठबंधन का सिम्मिलित वोट भी बीजेपी के वोट के मुकाबले कम पड़ जाता। वैसे भी जहां कहीं कांग्रेस ने मिलकर चुनाव लड़ा- जैसे कर्नाटक, बिहार और झारखण्ड- वहां भी उसकी बुरी गित हुई।

क्या कांग्रेस इससे कुछ अलग कर सकती थी? लगता नहीं है। महज 44 सांसदों वाली कांग्रेस विपक्ष के रूप में उम्मीद से ज्यादा मुखर व संघर्षरत रही। इसी के चलते सरकार और मीडिया का अत्यधिक तिरस्कार उसे झेलना पड़ा जो उसकी ताकत या प्रभाव के हिसाब से आनुपातिक नहीं था। मोदी शुरू से ही कांग्रेस पार्टी को बदनाम करने में लगे हुए हैं। उन्हें साफ़ दिख रहा था कि उनकी राह में इकलौता वैचारिक और सांगठिनक रोड़ा कांग्रेस ही है और एक व्यक्ति जो पूरी तरह निर्भीक और समझौतों से परे दिखता था वह अकेले राहुल गांधी था। राहुल गांधी के खिलाफ जो कुत्सा प्रचार अभियान चलाया गया और नतीजे आने के बाद भी जो जारी है, वह सहज नहीं है। यह कृत्रिम और बदनीयत आक्रोश है। वे अब भी उन्हें बाहर करने पर तुले हैं।

तो क्या राहुल को इस्तीफा दे देना चाहिए? उन्हें वही करना चाहिए जो एक विपक्ष का नेता और उनकी पार्टी के भीतर कोई खानदानी सदस्य कर सकता है। उनके न रहने पर कौन कांग्रेस की अगुवाई करेगा? और मोदी की वर्चस्वकारी लोकप्रियता के आगे इससे हासिल क्या होगा? आखिर विपक्ष के बतौर हम इस व्यवस्था को सबसे बेहतर क्या चीज़ दे सकते हैं?

मोदी की शख्सियत

यह चुनाव विचारों पर नहीं, व्यक्तित्व पर लड़ा गया। मोदी ने खुद को अमिताभ बच्चन की तर्ज पर गढ़ा है, जिनकी वे बहुत सराहना करते हैं और भारतीय सिनेमा में जो तकरीबन एक दशक तक नंबर 1 से नंबर 10 तक के पायदान पर अकेले काबिज रहे। मौजूदा दौर में मोदी भारतीय राजनीति के पहले से दसवें पायदान तक अकेले खड़े हैं। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि किसी पार्टी का मुखिया कौन है। कई लोग इस खुशफ़हमी में रहे कि मोदी का अब 2014 जैसा दबदबा नहीं रह गया है। वे मानकर चल रहे थे कि मोदी के पास केवल ताकत है, वर्चस्व नहीं, जैसा कभी ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में ग्राम्शी ने कहा था। यह धारणा गलत निकली।

राहुल गांधी बेशक मोदी के सामने खड़े हुए लेकिन मुकाबले में बहुत पीछे रह गए। वे शायद इसलिए सामने टिक नहीं सके क्योंकि मोदी खुद अमिताभ बच्चन की तरह एक महानायक हैं जो जनधारणा में असामान्य चीज़ें करने में सक्षम होता है। वह गरीब परिवेश से आया है (जैसे मुकद्दर का सिकंदर में सिकंदर का किरदार), ईमानदारी से मेहनत कर के रोज़ी कमाता है (जैसे कुली का किरदार), पैसेवालों के गुरूर को तोड़ता है (लावारिस में अमिताभ का किरदार), वह पहरा रखता है (शहंशाह), वह खुददार है (खुददार), देश के लिए अपनी जान दे सकता है (शोले), उसका शारीरिक सामर्थ्य असामान्य स्तर का है (जाद्गर, तूफ़ान), दोस्तों के लिए वह यारबाश है (याराना) और ज़रूरत पड़ने पर अपनी वक्तृता से आपको लाजवाब कर सकता है (आखिरी रास्ता)।

लोगों ने उसे वोट दिया है, लेकिन उनके मत को केवल नफ़रत या कट्टरता तक सीमित कर के देखना हेठी होगी। मैं मीडिया और सोशल मीडिया में प्रदर्शित की जा रही धर्मांधता को नजरंदाज नहीं कर रहा लेकिन मेरा मानना है कि ज़मीनी मतदाता सोशल मीडिया पर नफ़रत फैलाने वालों के मुकाबले काफी ज्यादा है। बेशक लोग अब अलग तरीके से वोट दे रहे हैं लेकिन यह मान लेना गलत होगा कि जनता बुनियादी तौर पर बदल चुकी है। यह कहना भी ठीक नहीं कि लोगों ने अविवेकपूर्ण तरीके से वोट दिया है। लोग क्या चाहते हैं या उन्हें क्या चाहिए, यह तय करने

वाले हम कौन होते हैं? आखिर वह कसौटी क्या है जिस पर हम लोगों के निर्णय को कसें और कह दें कि उन्होंने गलत किया है?

आप यदि मूड ऑफ दि नेशन के सर्वेक्षणों को देखें तो पता चलेगा कि भारत के लोगों ने देश की सबसे बड़ी समस्या आतंकवाद को बताया है। उन्होंने यदि एक ऐसा नेता खोज लिया है जो आतंकवाद से लड़ने के लिए तीव्र और निर्णायक उपाय कर रहा है तो लोग गलत कैसे हुए? अस्सी और नब्बे के दशक में इस देश में जो भी बड़ा हुआ है, उसने अकसर आतंकवादी कार्रवाइयों के लिए पाकिस्तान के प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन के समक्ष खुद को असहाय महसूस किया है। अगर एक नेता पाकिस्तान को मुंहतोड़ जवाब दे रहा है तो क्या लोगों को उसका समर्थन नहीं करना चाहिए? जनता बददिमाग नहीं हो गई है। उसने बस इस निजाम के आलोचकों और विरोधियों पर भरोसा करना छोड़ दिया है।

वैसे भी केंद्र और राज्य में सरकारें बदलने से करोड़ों बदहाल लोगों की जिंदगियों पर कभी कोई खास असर तो पड़ा नहीं, फिर एक ऐसी सरकार के बने रहने को लेकर आखिर हम क्यों परेशान हैं जिसमें गरीब आदमी हमेशा की तरह संघर्ष करने को अभिशप्त है। क्या कम्युनिस्ट पार्टी ने 1947 के सत्ता परिवर्तन का विरोध यह कह कर नहीं किया था कि "ये आज़ादी झूठी है, देश की जनता भूखी है"? क्या हम इसी तर्ज पर यह दावा नहीं कर सकते कि देश की जनता तो भूखी ही है, फिर क्या फर्क पड़ता है कि दिल्ली में किसकी सरकार है। कुछ लोग इस जीत में निहित पहचान की राजनीति को लेकर असहज हैं, लेकिन लोग अपनी उसी पहचान को चुनते हैं जिसे वे आगे रखना चाहते हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि लोगों को मर्ख बना दिया गया है और उनका भ्रम दूर किया जाना ही होगा। क्या लोगों को ज्ञान देने के लिए कोई दूसरा महानायक आएगा जिसकी पहचान की राजनीति हमारी पसंद की होगी?

मुसलमानों का सवाल

मुसलमानों का क्या हो? इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि मोदी को मुसलमानों से बहुत लगाव नहीं है। वास्तव में बीजेपी के साथ ही ऐसा है क्योंकि उसका निर्माण ही हिंदू आक्रोश के आधार पर हुआ है। ठीक वैसे ही मुसलमानों में भी बीजेपी या आरएसएस के प्रति कोई खास लगाव नहीं रहा। यहां यह याद करना मौजूं होगा कि हिंदू आक्रोश और हिंदू धर्म के पुनर्गठन की भव्य परियोजना तथा भारत को उसके शीशे में उतारने का काम उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ था। आरएसएस के बनने तक तो इस परियोजना ने करीब 70 साल कामयाबी से बिताए थे।

अपने सामूहिक अतीत का निषेध और अपने वर्तमान में भारतीय मुस्लिम नामक संज्ञा की मौजूदगी उस पुनर्गठन के दो अनिवार्य आयाम रहे (संयोग से जिसकी शुरुआत बंगाल से हुई)। उस परिवेश में भारतीय मुस्लिमों की असहजकारी मौजूदगी और तक़सीम से जुड़े सदमे व शिमेंदिगियां तब भी एक समस्या थी और आज वह कई गुना हो चुकी है। कई लोगों को लग रहा है कि इस चुनाव नतीजों के बाद वह परियोजना अब पूरी होने के कगार पर पहुंच चुकी है। मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता। चाहे जो हो, आरएसएस उस परियोजना की सबसे बड़ी वाहक है और राजनीति में कट्टर होने का मतलब ही होता है अपने विरोधियों के प्रति कठोर होना। किसी भी बदलावकारी राजनीति के स्वभाव में यह बात होती है, मसलन जैसा हमने फ्रांसीसी क्रांति में देखा कि हर नई लहर के बाद पहले वाली कट्टर ताकत नरम जान पड़ने लगती है। ठीक है कि साध्वी प्रज्ञा जीत गईं, लेकिन हमें थोड़ा ठहर कर अभी देखना होगा।

मुसलमान डरा ह्आ है

इस चुनाव में तमाम कथित मुसलमानपरस्त दलों का तकरीबन सफ़ाया हो गया है। ऐसा हालांकि सिर्फ इसलिए नहीं हुआ कि उन्हें मुसलमानपरस्त के तौर पर देखा जाता है। उन्हें भ्रष्ट समझा जाता है और इसीलिए देशद्रोही भी माना जाता है। मान लेना चाहिए कि मुस्लिम वोट अब अप्रासंगिक हो चला है। यह खतरनाक है। दुख देने वाला है, लेकिन फर्स्ट पास्ट द पोस्ट के आधार पर बनी चुनावी प्रणाली ऐसी ही है, क्या करेंगे। हम यदि सियासी बदलाव चाहते हैं तो हमें उसी स्तर पर चुनावी सुधार की भी जरूरत होगी जो आनुपातिक प्रतिनिधित्व से ही संभव हो सकता है। अब यह बात आप एक ऐसे देश में कह कर देखिए जिसका विभाजन ही पृथक निर्वाचन मंडल से उपजी तबाही के कारण हुआ।

मुसलमान बहुत डरा हुआ है, इसमें कोई शक नहीं और बीते पांच साल में उसके ठोस कारण मौजूद हैं। कोई नहीं जानता कि उनके साथ क्या होने वाला है लेकिन उन्हें याद दिलाया जाना चाहिए कि वे विभाजन की हिंसा के बाद भी बने रहे थे और भिवंडी, अमदाबाद, मुरादाबाद, भागलपुर, मिलहाणा, बंबई और यहां तक कि 2002 के नरसंहार के बाद भी यहां कायम रहे। बीते पांच साल भी उन्होंने काट ही लिए हैं।

कौन जानता है कि कल क्या होगा, लेकिन हमारा राजनीतिक अतीत जिन रास्तों से होकर यहां तक पहुंचा है वह पूरी तरह बेकार नहीं हो चुका है। जैसा कि आंबेडकर कहते थे, जनतंत्र केवल एक चुनाव का मामला नहीं है। यह रोज़मर्रा की लाखों-करोड़ों जनतांत्रिक प्रक्रियाओं, छोटे-छोटे रोज़ाना के संघर्षों से मिलकर बनता है। ये छोटे-छोटे संघर्ष तो जारी रहेंगे। इन्हें जारी रखना ही होगा।

अब आरएसएस ने गांधी पर चूंकि पूरी तरह फ़तह हासिल कर ली है, तो उसे सोचना होगा कि वह कोई 20 करोड़ भारतीय मुसलमानों के साथ क्या करने जा रहा है। इन्हें गायब तो किया नहीं जा सकता। इन्हें शिविरों में भी नहीं रखा जा सकता। इन्हें आप मार भी नहीं सकते। ये खुद बखुद गायब भी नहीं होने वाले। आप इन्हें अगर बदहाल, हताश, निराश रखेंगे तो ये भारत के पांवों में बेडि़यों की मानिंद पड़े रहेंगे या अलबट्रास की तरह रहेंगे जो अपनी राख से उठ खड़ा होता है। इसमें संदेह है कि अपनी आबादी के पांचवें हिस्से को वंचित रखकर भारत गौरव ओर समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ पाएगा। इसीलिए मुसलमानों को नीचे रखने की कोई भी राजनीति देशविरोधी और राष्ट्रविरोधी होगी। यह एक सहज समझदारी है लेकिन भारत के असली भक्त जो वास्तव में इस देश को विकास और समृद्धि की राह पर देखना चाहते हैं उन्हें यह बात बार-बार याद दिलानी होगी।

भारतीय मुसलमानों की किस्मत में चाहे जो हो, इस देश की किस्मत में और भी बहुत कुछ देखना बदा है। वजूद का यह संकट जितना गहराता जाएगा, हम निराश होते जाएंगे। हो सकता है कि हम में से कई लोग चुप हो जाएं या फिर बेपरवाह ही हो जाएं। ऐसी सूरत में पिछली सदी के बेहतरीन अस्तित्ववादी नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' की कुछ पंक्तियां दुहराने से बेहतर मैं कुछ नहीं पाता हूं:

मैं अब और नहीं चल सकता, लेकिन मुझे चलना ही होगा। यह बेशक मामूली सी बात है, लेकिन इससे बेहतर कुछ और है क्या।

जनादेश 2

पूर्वांचल: बसपा का वोटबैंक मानी जाने वाली शबरी की संतानें श्रीराम के पास कैसे चली गईं?

आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी की चौंकाने वाली शानदार जीत में उत्तर प्रदेश के वनवासी मुसहरों का बड़ा योगदान है। जौनपुर-वाराणसी की मछलीशहर लोकसभा सीट हो या सोनभद्र- चंदौली की राबर्ट्सगंज लोकसभा सीट, इस पूरे इलाके में करीब एक लाख की संख्या में फैले वनवासी मुसहर या महादलित हमेशा से राजनीतिक रूप से हाशिए पर रहे हैं। राजनीतिक विश्लेषक इन मुसहरों को आम तौर से बहुजन समाज पार्टी का वोटबैंक मानते हैं। बसपा की रैलियों में इनको ट्रकों में भर कर लाया जाता रहा है लेकिन रैली के बाद इनकी मूलभूत मांगों को हमेशा अनसुना छोड़ दिया जाता रहा है।

मोदी की प्रचंड जीत में इन्हीं मुसहरों पर बीजेपी के चुनाव शिल्पियों की नजर थी। विपक्ष जहां मोदी के प्रचार के जवाब में प्रचार कर रहा था, उधर बीजेपी के नेता कार्यकर्ता जमीनी स्तर पर इनके बीच काम कर रहे थे। सामान्य तौर से देखा जाए तो यूपी में ही पिछले पांच वर्षों में स्कूलों में क्विज कंपिटिशन करवाने की बात रही हो या फिर 18 साल नए मतदाताओं को पहली बार मतदान करने के लिए प्रेरित करने की योजना, बीजेपी कार्यकर्ताओं की तीसरी-चौथी पंक्ति की टीम लगातार काम कर रही थी और उसके प्रवक्ता टीवी चैनलों पर इसका प्रचार कर रहे थे। बीजेपी का आईटी सेल सोशल मीडिया पर माहौल बना रहा था जबकि विपक्ष केवल उसकी काट ढूंढ रहा था।

जौनपुर, गाजीपुर, चंदौली, मिर्जापुर, भदोही और वाराणसी सहित पूर्वांचल की नौ सीटो पर चुनाव से ठीक पहले 16 मई की सुबह 10 बजे की बात है। महागठबंधन के नेता मायावती, अखिलेश यादव और चौधरी अजित सिंह वाराणसी के सीर गोवर्धनपुर स्थित संत रविदास समागम स्थल पर एक ओर महारैली कर रहे थे, ठीक उसी वक्त वाराणसी के सांस्कृतिक संकुल, चौकाघाट पर बीजेपी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वनवासी संवाद कार्यक्रम में मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ वनवासियों को उनकी सरकार में मिले लाभ गिनवा रहे थे। वे वनवासी महादलितों की समस्याएं स्न रहे थे।

योगी जब अपनी सरकार में वनमाफिया के खिलाफ कार्रवाई की बात करते हैं तो वनवासी समाज में उसका सकारात्मक संदेश जाता है। इससे पहले भी योगी आदित्यनाथ वनवासी

कार्यक्रम में बजरंग बली को दलित बता कर वनवासी समाज को पार्टी से जोड़ने की लाइन पर दस कदम आगे चल चुके थे।

बनारस-मिर्जापुर के मुसहरों से बात करने पर एक बात जो सामने आई वो यह कि ढाई लाख रुपये के सरकारी मकान वाली योजना ने उन्हें अकेले बीजेपी का एकतरफा वोटर बना दिया। मुसहरों के बीच बरसों से काम कर रहे बनारस के सामाजिक कार्यकर्ता डॉ। लेनिन कहते हैं, "यह योजना आयोग की पहली ऐसी योजना थी जिसमें सारा खर्च सरकार का था। मोदी ने योजना आयोग को भंग कर दिया लेकिन इस योजना को अपनी योजना के रूप में प्रचारित कर के वोट ज्टा लिए।"

पूर्वांचल के मुसहर बेल्ट के मुसहरों ने बीजेपी को इस बार एकतरफा वोट दिया है। उसकी एक वजह तो यह है कि ये मुसहर जिनके ईंट-भट्ठों में बंधुआ मजदूरी करते हैं वे दबंग मालिकान मोटे तौर पर बीजेपी के वोटर हैं। इसकी दूसरी वजह हालांकि बीजेपी का ज़मीनी काम भी है, इसमें कोई शक नहीं। 2019 के चुनाव में बीजेपी को मिली सीटों का भले कुछ भी आकलन होता रहे लेकिन जमीनी स्तर पर योजनाओं के कार्यान्वयन और लाभार्थियों से संवाद की जो योजना बीजेपी के पास है, वह विपक्ष में नदारद है।

जातिगत गणित और मोदी सरकार के कुछ सख्त कार्यक्रमों (जीएसटी व नोटबंदी) के खिलाफ आक्रोश को ठंडा किए जाने और उसे वापस बीजेपी की ओर मोड़े जाने के रहस्य को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि ईसाई मिशनरी और बसपा के कोर वोटरों को लुभाने में बीजेपी कैसे इतनी सफल रही है।

बीजेपी के नेता शशांक शेखर बताते हैं कि संघ के पूर्वी क्षेत्र प्रचारक अनिलजी के निर्देश पर पिछले पांच महीनों से वे 200 महादिलत बस्तियों में संपर्क कर रहे थे। वे बताते हैं, "तमाम गितरोधों के बावजूद हम इन बस्तियों में योगी सरकार की योजनाओं का लाभ समझाने में सफल हुए' '।

शशांक पूरे आत्मविश्वास से कहते हैं, "माता शबरी की संतानें अपने श्रीराम से कब तक दूर रह सकती हैं? उन्हें मुख्यधारा में वापस लाना हमारा धर्म और कर्तव्य दोनों है" ।

जाहिर तौर पर बीजेपी और संघ के नेता अपनी इन कोशिशों में सफल रहे हैं। वाराणसी दक्षिणी के विधायक और राज्यमंत्री डाँ। नीलकंठ तिवारी, एमएलसी लक्ष्मण आचार्य और संघ प्रचारक राजेंद्र प्रताप पांडेय ने 16 मई के संवाद कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की थी। पांच हजार से

ज्यादा महादिततों के मुख्यमंत्री के संवाद कार्यक्रम में लाकर इन्होंने पूर्वाचल में बीजेपी की जीत की बुनियाद रख दी। जौनपुर और वाराणसी से लगे मछलीशहर सुरक्षित सीट से बीजेपी की 180 मतों से विजय इसी सफलता की कहानी कह रही है।

गौरतलब है कि 16 मई से एक दिन पहले 15 मई की शाम कांग्रेस महासचिव प्रियंका गांधी के रोड शो में बंपर भीड़ देखने को मिली थी, लेकिन कांग्रेस और महागठबंधन से कोई ये पूछे कि उनकी पार्टी के कार्यकर्ता जनता को अपनी विचारधारा से जोड़ने के लिए किस संपर्क अभियान पर थे, तो उनके पास सिर्फ चुनाव प्रचार की दलीलें होंगी। हकीकत यह है कि चुनाव सिर्फ प्रचार से नहीं, जनसंपर्क से जीते जाते हैं। संवाद से जीते जाते हैं।

एक ऐसे चुनाव में आप कांग्रेस की कामयाबी का मुग़ालता कैसे पाल सकते हैं जहां अध्यक्ष राहुल गांधी अपनी जनसभाओं में स्थानीय प्रत्याशी का जनता से परिचय तक नहीं करवाते और आदिवासी बहुत छत्तीसगढ़ के पिछड़े क्षेत्र बस्तर में जाकर राफेल सौदे का घोटाला गिनवाते हैं?

(मीडियाविजिल से साभार)

जनादेश 3

बिहार में महागठबंधन का सफाया क्यों और कैसे हुआ?

मोदी की सुनामी में पूरे देश के साथ बिहार में भी विपक्ष ध्वस्त हो गया। यहां एनडीए को 39 सीटों पर जीत मिली तो महागठबंधन को किशनगंज की केवल एक सीट मिली। कांग्रेस का खाता जरूर खुला लेकिन मुख्य विपक्षी दल राजद अपने अस्तित्व के बाद पहली बार जीरो पर आउट हो गया। एनडीए भले चुनाव प्रचार के दौरान 40 सीट जीतने का दावा कर रहा था, लेकिन उन्हें भी इस परिणाम पर यकीन नहीं हो रहा होगा। बिहार में भाजपा 17, जदयू 16 तो लोजपा 6 सीट जीतने में सफल रही। वहीं, महागठबंधन में शामिल रालोसपा, वीआईपी और हम का भी राजद की तरह खाता नहीं खुल सका।

पहली बार यहां एनडीए को 53125 फीसदी वोट मिला, वहीं महागठबंधन को करीब 32 फीसदी वोट मिला। 2014 में भाजपा, लोजपा और रालोसपा से बनी एनडीए को 3818 फीसदी वोट मिला था। तब जदयू-सीपीआई और राजद-कांग्रेस-एनसीपी का गठबंधन अलग-अलग था और उन्हें क्रमश: 1715 फीसदी और 2913 फीसदी वोट मिला था। इसमें जदयू को 1518 फीसदी और राजद को 20110 फीसदी वोट मिला था। 2014 में जदयू को 2 और राजद को 4 सीटों पर सफलता मिली थी। इस बार राजद के वोट प्रतिशत में करीब 5 फीसदी की कमी आई है, लेकिन यह कमी उसे मिले कुल मतों की वजह से नहीं बल्कि लड़ी जाने वाली सीटों की कम संख्या की वजह से है। गौरतलब है कि राजद 2014 में 25 सीटों पर चुनाव लड़ा था तो 2019 में सिर्फ 19 सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए।

अब सवाल उठता है कि सीट कम लड़ने की वजह से भले राजद का वोट प्रतिशत कम हुआ हो, लेकिन वह जीत में क्यों नहीं बदल सका? दरअसल, 2014 के एनडीए और 2019 के एनडीए के ढांचे में बड़ा बदलाव आया। रालोसपा जहां अलग होकर महागठबंधन का हिस्सा हो गई, वहीं पिछली बार 1518 फीसदी वोट लाने वाली जदयू एनडीए का हिस्सा हो गई। इस तरह से 2014 को ही आधार मान लें तो नए समीकरण में वोट प्रतिशत के आधार पर एनडीए का कुल वोट 5116 फीसदी हो जाता है। इसमें बीजेपी का 2914 फीसदी, जदयू का 1518 फीसदी वोट शामिल है। वहीं, 2019 में इस गठबंधन को पिछली बार की तुलना में 115 फीसदी ज्यादा वोट मिला। 2014 के आधार पर रालोसपा का 3 फीसदी वोट राजद गठबंधन में जोड़ने पर 3115 फीसदी होता है। इस बार यह मुकेश साहनी की वीआईपी और जीतनराम मांझी की हम के साथ मिलकर

भी कुल मत 31।46 फीसदी ही हासिल कर सका। यानी एनडीए के मुकाबले में महागठबंधन करीब 21।75 फीसदी वोट पिछड गया।

अगर 2014 के आधार पर भी जोड़ा जाए तो यह गठबंधन एनडीए से करीब 20 फीसदी पीछे ही रहता। इस तरह से 2014 के परिणाम अलग-अलग लड़ने की वजह से क्लीन स्वीप वाला न रहा, लेकिन 2019 में महागठबंधन का विरोधी वोट एक जगह पर आकर एनडीए को क्लीन स्वीप दिलाने में सफल रहा।

अब सवाल उठता है कि उपेंद्र कुशवाहा, जीतन राम मांझी और मुकेश साहनी के एनडीए से बाहर आने के बावजूद एनडीए को कोई बड़ा नुकसान क्यों नहीं हुआ? यही नहीं, तुलनात्मक तौर पर 2 फीसदी वोट भी बढ़ गया। एनडीए में भाजपा ने अपनी सीटों को घटाकर 17 सीट करने और जदयू को भी बराबर सीट देने में जो दिरयादिली दिखाई और जो सामंजस्य दिखाया, वह महागठबंधन के घटक दलों के बीच अंतिम अंतिम समय तक नदारद रहा। महागठबंधन के कई महत्वपूर्ण नेता टिकट नहीं मिलने की वजह से नाराज होकर बाहर चले गए और भितरघात करने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी।

यह हार का उतना बड़ा कारण शायद नहीं था। कारण रहा, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। दरअसल, एनडीए के वोट बढ़ने के सबसे अहम कारण को समझने के लिए पिछले पांच साल में बिहार में उभरे एक ट्रेंड को समझना पड़ेगा। गांव-गांव शहर दर शहर शिव चर्चा जैसे धार्मिक आयोजनों की संख्या बढ़ी है तो नए-नए मंदिरों में प्राण-प्रतिष्ठा का चलन भी बढ़ा है। इसकी गति तेज हुई है। पिछले साल रामनवमी के दौरान इस राज्य के हजारों-लाखों ग्रामीण और शहरी युवाओं को लाखों की संख्या में तलवार बांटे गए। इंडियन एक्सप्रेस इस मुद्दे पर सिरीज में स्टोरी कर चुका है।

इन घटनाओं से भाजपा के हिंदू बनाम मुसलमान, बालाकोट के बाद पैदा किए गए उग्र राष्ट्रवाद के माहौल को हाथों हाथ लेने का माहौल बना और महागठबंधन से जुड़ी जातियों की महिलाओं को भी नरेंद्र मोदी कमोबेश आकर्षित करने में सफल रहे। महिलाओं के आकर्षण का एक कारण हालांकि शराबबंदी भी रही। फिर, बंगाल में ममता बनर्जी जिस तरह से अल्पसंख्यकवाद पर जोर दे रही थीं और भाजपा के साथ टकराव में थीं, उससे भी बिहार में विपक्ष को लेकर उत्साह घट रहा था और हिंदुत्व के एजेंडे पर ध्वीकरण बढ़ रहा था।

दूसरी तरफ बेगूसराय जैसे अपवाद को छोड़ दें तो मुसलमान तबका कमोबेश महागठबंधन के साथ था लेकिन सैकड़ों ऐसे बूथ मिल जाएंगे जहां मुसलमानों का वोट प्रतिशत गिरकर 28-35 फीसदी तक रह गया है। यानी एक तरफ सामान्य वोट 60 फीसदी तक जा रहा था, वहीं मुसलमानों के वोट डालने की रफ्तार कमजोर पड़ रही थी। इसका सबसे बड़ा कारण रोजगार की वजह से खाड़ी देशों या दूसरे राज्यों में पलायन है। आज से दस साल पहले इनके बूथों पर 80-85 फीसदी वोट होना आम बात थी। इसका भी खामियाजा महागठबंधन को भुगतना पड़ा।

अब बात अतिपिछड़ों की। गैर-यादव ओबीसी और अतिपिछड़ों को लुभाने के लिए एनडीए ने 14-15 सीटों पर गैर-यादव ओबीसी को टिकट बांटा। इसने बहुत बारीकी से जहानाबाद, सुपौल, झंझारपुर जैसी सीट पर अतिपिछड़ा को खड़ा कर बड़ा संदेश देने की कोषिश की। 1990 के दौर में लालू प्रसाद के उभार में गैर-यादव ओबीसी की बड़ी भूमिका थी। याद करें, उस दौर में लालू प्रसाद यादव की पार्टी में कोइरी, कुर्मी, धानुक के साथ साथ कुम्हार, नाई, बढ़ई, लोहार, डोम, रविदास, मल्लाह, बनिया, कहार (चंद्रवंशी), पासी जैसी जातियों के सैकड़ों छोटे-बड़े नेता सम्मान पा रहे थे। अब राजद में इन जातियों से आने वाले गिने-च्ने लोगों की दूसरी पंक्ति के नेता बचे हैं।

इन जातियों के बीच यह प्रचारित किया जाता रहा कि यादव सामाजिक न्याय का सबसे बड़ा लाभार्थी है। यह अलग बात है कि पिछले पांच साल में नरेंद्र मोदी ने आरक्षण को खत्म करने की हरसंभव साजिश रची लेकिन महागठबंधन अपनी जनता और गैर-यादव ओबीसी व दलितों के बीच इसे समझाने में काफी हद तक नाकाम रहा।

यह मान भी लें कि कुशवाहा और मल्लाह समाज के बड़े हिस्से का वोट महागठबंधन को ट्रांसफर हुआ, तो भी गैर-यादव ओबीसी और अतिपिछड़ा का बड़ा हिस्सा एनडीए के साथ बरकरार रह गया। कहीं-कहीं स्थानीय कारणों या नीतीश कुमार से उपजी निराश की वजह से कुर्मी और धानुक का बहुत छोटा हिस्सा महागठबंधन को ट्रांसफर हुआ। इसी तरह से रविदास का बड़ा हिस्सा बसपा के साथ बना रहा। बसपा को इस चुनाव में 1167 फीसदी वोट मिले। सासाराम और बक्सर में तो करीब 90,000 तक वोट हासिल करने में बसपा सफल रही। जीतन राम मांझी अपने वोट को कमोबेश ट्रांसफर कराने में असफल रहे, हालांकि मांझी मतदाताओं का बड़ा हिस्सा बाहर पलायन कर गया है और जो यहां हैं भी, उन्होंने काफी हद तक गैर-यादव के नाम पर एनडीए के साथ ही बने रहना म्नासिब समझा।

आखिरी बात, सामाजिक न्याय के मसीहा कहे जाने वाले लालू प्रसाद यादव की अनुपस्थिति में तेजस्वी का नेतृत्व पारिवारिक तनाव में उलझ कर रह गया। बड़े भाई तेजप्रताप न सिर्फ फेसब्क और ट्विटर पोस्ट से तेजस्वी पर निशना साध रहे थे, बल्कि खुलेआम विरोध में रोड शो कर महागठबंधन के आधिकारिक उम्मीदवारों को हराने की अपील भी कर रहे थे। मीसा भारती की भूमिका भी संदिग्ध रही। उन्होंने पाटलिपुत्र, जहां से वे खुद उम्मीदवार थीं, को छोड़कर कहीं भी प्रचार में हिस्सा नहीं लिया। पूरे चुनाव प्रचार में पारिवारिक तनाव और स्वास्थ्य कारणों से तेजस्वी की करीब 25 सभाओं-रैलियों को अंतिम समय में रदद करना पड़ा।

इन तथ्यों को संज्ञान में लिए बगैर बिहार के चुनाव नतीजों का विश्लेषण संभव नहीं है।

(मीडियाविजिल से साभार)

जनादेश 4

पश्चिम बंगाल में आरएसएस-बीजेपी ने हिंदू वोटों का धुवीकरण कैसे किया

लोकसभा चुनाव के परिणाम आ चुके हैं और मोदी सरकार भारी बहुमत के साथ फिर से सतासीन होने जा रही है। यूँ तो तमाम एक्जिट पोल में इसकी आहट पहले ही मिल चुकी थी पर वोटिंग मशीनों की गिनती जैसे-जैसे आगे बढ़ी और परिणाम आने आरंभ हुए, देश कई नये समीकरणों के साथ नयी करवट ले रहा था।पश्चिम बंगाल की राजनीति को भी इस चुनाव ने व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है।

राज्य की कुल 42 सीटों में से सत्ताधारी तृणमूल कांग्रेस को 22, भाजपा को 18 सीटें और कांग्रेस को दो सीटें मिली। कई बड़े उलटफेर इस चुनाव में देखे गए। 2014 के लोकसभा में 2 सीटें और 2016 के विधानसभा चुनाव में मात्र तीन सीटें जीतने वाली भाजपा को 18 सीटें मिली हैं। 2014 के 17% के मुकाबले इस बार 40% वोट शेयर के साथ सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी के रूप में भाजपा उभरी है।

चुनाव से पहले भाजपा अध्यक्ष ने बंगाल के लिए 23 सीटों का टार्गेट रखा था और चुनाव के नतीजों में वह लगभग उसके करीब पहुँच गई है। मोदी एवं अमित शाह की जोड़ी ने राज्य भर में करीब चालीस सभाएं की। इसी से पता चलता है कि भाजपा अब बंगाल की सत्ता पाने के लिए कितना जोर आजमाइश कर रही है। भाजपा का प्रधान लक्ष्य अगले साल होने वाला नगरपालिका चुनाव एवं 2021 में होने वाला विधानसभा चुनाव है जिसके लिए इसने जबरदस्त आधार तैयार कर लिया है।

लोकसभा चुनाव के नतीजे ने ममता बनर्जी की सरकार के लिए जबरदस्त खतरा पैदा कर दिया है। ममता बनर्जी की ढुलमुल नीति के कारण साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण बड़ी तेजी से हुआ है। सरकारी कर्मचारी नया वेतन कमीशन एवं भारी बकाया मंहगाई भता न मिलने से बेहद नाराज है। कुल 42 सीटों में से 39 सीटों पर सरकारी कर्मचारियों द्वारा पोस्टल बैलट द्वारा किए गए मतदान में भाजपा आगे रही है। भाजपा के बड़े नेताओं ने भी चुनाव प्रचार के दौरान इस मुद्दे को जोर शोर से उठाया था।

लगभग 30% अल्पसंख्यक अबादी वाले इस राज्य में भाजपा का पैर फैलाना आसान न था जिनके वोट हर चुनाव में निर्णायक सिद्ध होते थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं हिंदूवादी संस्थाओं ने पिछले कुछ वर्षों में यहाँ गहरी पैठ बनाई है एवं हिंदू वोटों के ध्रुवीकरण के लिए हर तौर-तरीका आजमाया है।

जन संघ के संस्थापक श्यामा प्रसाद मुखर्जी की भूमि पर अब तक अपनी निर्णायक उपस्थिति न दर्ज कर पाने का मलाल भाजपा को लंबे समय से रहा था एवं इस चुनाव परिणाम से उन्हें थोड़ा संतोष अवश्य हुआ है। आदिवासी एवं ग्रामीण वोट बैंक में भी भाजपा ने जबरदस्त सेंघ लगाई है।

राज्य के कुल 294 विधानसभा सीटों में से 129 सीटों पर बीजेपी आगे रही है। पिछले साल के पंचायत चुनावों में जिन स्थानों पर तृणमूल कांग्रेस ने बिना प्रतिद्वंदता के जीत हासिल की थी उनमें से अधिकांश में उन्हें इस बार हार का सामना करना पड़ा है। इससे पता चलता है कि वोटर शासक दल से कितने नाराज थे। उत्तर बंगाल एवं आदिवासी अंचलों में तो पिछले पंचायत चुनाव में ही भाजपा ने अपने पैर जमाना आरंभ कर दिया था।

गोरखा आंदोलन को शांत करने में ममता भले ही सफल रही पर दार्जिलिंग सीट फिर से भाजपा के हाथ आई। इधर 34 वर्षों तक राज्य पर शासन करने वाले वामपंथी दलों का खाता तक नहीं खुल पाना इस चुनाव की बड़ी घटना रही। वाममोर्चा के वोटरों का बहुत बड़ा अंश भाजपा की ओर चला गया।2011 में 40% वोट के बाद 2016 में घटते हुए 25% एवं वामदलों को इस लोकसभा चुनाव में महज 5% वोट मिले। वाममोर्चा एवं कांग्रेस के बीच सीटों पर तालमेल न बैठा पाने के कारण दोनों दलों को भारी नुकसान उठाना पड़ा है।

कांग्रेस को भी महज 4% वोट मिले हैं। इस चुनाव में राज्य के युवा वोटरों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। युवाओं के वोट का एक बहुत बड़ा हिस्सा भाजपा की ओर गया है।इसका एक बड़ा कारण था कि भाजपा ने अपने आईटी सेल को काफी मजबूत किया एवं वाट्सएप, फेसबुक एवं अन्य सोशल साइट्स के माध्यम से अपना प्रचार तथा विपक्षी दलों पर प्रहार किया।इस मामले में भी यहाँ के अन्य दल काफी पीछे रह गये।

इधर चुनाव परिणाम आने के बाद से राज्य के कई हिस्सों में हिंसा की घटनाएं लगातार घट रही है। उत्तर 24 परगना, बर्दवान, बीरभूम,क्चिबहार, कोलकाता एवं अन्य जिलों से लगातार राजनीतिक संघर्ष की खबरें आ रही है।बैरकपुर लोकसभा केंद्र के अंतर्गत कांकिनारा, जगद्दल, नैहाटी एवं टीटागढ़ अंचल में हिंसक वारदात हो रहे हैं जहाँ भाजपा के अर्जुन सिंह ने तृणमूल कांग्रेस के दिनेश त्रिवेदी को बहुत ही नजदीकी अंतर से मात दी है। इस लोकसभा क्षेत्र के

अंतर्गत भाटपाड़ा विधानसभा उपचुनाव के दिन 19 मई को आरंभ हुई हिंसा थमने का नाम नहीं ले रही है जहाँ अर्जुन सिंह के पुत्र पवन सिंह ने तृणमूल कांग्रेस के मदन मित्रा को हराया है।

मदन मित्रा तृणमूल कांग्रेस के कद्दावर नेता एवं शारदा चिटफंड घोटाले में मुख्य अभियुक्त रहे हैं। भाटपाड़ा अंचल में कई दुकानों एवं घरों में लूटपाट एवं आगजनी की घटनाएं लगातार हुई है। 26 मई की रात चंदन साव नाम के युवा भाजपा कर्मी की हत्या कर दी गई है। यह भी बता दें कि इससे दो दिन पहले नदिया जिला के चाकदह अंचल में संटू घोष नाम के युवा भाजपा कर्मी की हत्या कर दी गई थी। फिलहाल इलाके में रैफ एवं भारी पुलिसबल की तैनाती है।

राज्य के कई हिस्सों में भाजपा एवं तृणमूल कांग्रेस द्वारा एक दूसरे के पार्टी ऑफिसों पर हमला एवं कब्जा कर लेने की खबरें लगातार आ रही हैं। यूँ तो यहाँ सत्ताधारी दल द्वारा विपक्षी दलों पर हमला करने की पुरानी परंपरा रही है पर इस बार भाजपा द्वारा तृणमूल को उनकी भाषा में ही जवाब दिया जा रहा है। भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष दिलीप घोष ने हिंसा के लिए तृणमूल कांग्रेस को जिम्मेदार ठहराया है एवं कहा है कि जैसे को तैसा की भाषा में जवाब दिया जाएगा। वहीं शासक दल ने इसके लिए भाजपा को जिम्मेवार ठहराया है। आने वाले समय में यह टकराव और ज्यादा बढ़ने की पूरी संभावना सामने दिख रही है।

मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने 25 मई को चुनाव बाद पहले प्रेस कांफ्रेंस में कहा कि भाजपा राज्य में साम्प्रदायिकता का जहर फैला रही है। इसी प्रेस कान्फ्रेंस में उन्होंने यह कह कर विवाद फैला दिया कि मुझ पर मुस्लिम तुष्टिकरण का आरोप लगाया जाता है। हाँ! मैं इफ्तार पार्टी के लिए जा रही हूँ। दूध देने वाली गाय की दुलती भी सहनी पड़ती है। इस बयान पर प्रतिक्रिया देते हुए राज्य भाजपा नेता शमिक भट्टाचार्य ने कहा कि मुख्यमंत्री के वक्तव्य से जाहिर है कि साम्प्रदायिकता की राजनीति कौन कर रहा है।

इधर ममता ने तृणमूल के विभिन्न पदों पर भारी बदलाव किया है। अपने भतीजे अभिषेक बनर्जी से कुछ महत्वपूर्ण जिम्मेवारी छीन कर उन्होंने दल अन्य नेताओं को दिया है। शासक दल बैकफुट पर चली आई है और अगला हर कदम सावधानी से रखना चाहती है। आने वाले समय में राज्य के राजनीति की दिशा किधर जाने वाली है इसकी स्पष्ट झलक इस चुनाव से मिल रही है। बाकी हमें समय का इंतजार करना होगा।

(मीडियाविजिल से साभार)

जनादेश 5

आम चुनाव के नतीजों से जुड़े उन पांच सवालों का जवाब, जो सबके मन में हैं

17वीं लोकसभा का चुनाव संपन्न हो गया। अंदेशा पहले से था कि 2014 के मुकाबले 2019 के नतीजे ज्यादा अप्रत्याशित और चौंकाने वाले होंगे। नतीजे आने के बाद चौंकने वालों में वे लोग शामिल नहीं हैं जो संघ परिवार से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हैं। उनका तो शुरू से ही मानना रहा कि अबकी बार बीजेपी 300+ सीटें लाएंगी। वैसे आत्मविश्वास तो मायावती, अखिलेश यादव, तेजस्वी यादव, उपेन्द्र कुशवाहा, जीतनराम मांझी और ममता बनर्जी में भी था कि वे बीजेपी को बुरी तरह परास्त करेंगे, लेकिन वह बुरी तरह धराशायी हुआ।

ऐसे में पांच बड़े सवाल इस आम चुनाव को लेकर हैं जिन पर आम लोगों के बीच काफी भ्रम है। इन सवालों के जवाब एक-एक कर के देना ज़रूरी है।

क्या इस चुनाव ने परिवारवाद को खत्म कर दिया है

बहुत सारे बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि लालू प्रसाद यादव परिवार का वंशवाद, मुलायम सिंह यादव का परिवारवाद, मायावती का अपने भतीजे को पार्टी के मंच पर स्थापित करना और परिवारवाद को बढ़ावा देना- इन्हें जनता ने नापसंद किया और इनसे अलग हो गई। परिवारवाद बेशक एक कारक है लेकिन निर्णायक नहीं। बिहार में यदि यह कारक रहता तो रामविलास पासवान के पुत्र चिराग पासवान, भाई पशुपित पारस से लोग क्यों नाराज नहीं थे, उनको क्यों नहीं हराया? अश्विनी कुमार चौबे के बेटे से लोग क्यों नाराज नहीं थे? महाराष्ट्र में शिवसेना पूरी तरह वंशवादी पार्टी है। बालासाहेब ठाकरे की तो तीसरी पीढ़ी राजनीति में स्थापित होने के कगार पर है, फिर उनको लोगों ने क्यों नहीं हराया? तेलंगाना में वाईएसआर जगन रेड्डी अपनी पारिवारिक विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं। ओडिशा में नवीन पटनायक अपने परिवार की ही विरासत संभाल रहे हैं, उन्हें क्यों नहीं लोगों ने हराया? यूपी में स्वामी प्रसाद मौर्य की बेटी संघमित्रा मौर्य जीत गईं।

इसिलए यह कहना कि पार्टियां परिवारवाद के कारण हारीं, राजनीतिक सत्य से मुंह मोड़ना है। यह आंशिक सत्य हो सकता है। सत्य यह है कि परिवार और जाति ही ऐसे दलों की प्राणवायु हैं। अगर इनसे इनका परिवार और जाति छीन ली जाए तो ये पार्टियां राजनीति में स्वत: निष्प्रभावी हो जाएंगी। बीजेपी इस जातिगत आग्रह को जानती थी। उसने ऐसी रणनीति बनाई कि इनकी जातियों को छोड़कर इनसे सभी जातियों को छीन लिया जाए। इस रणनीति में वह कामयाब रही। अपने सुप्रीमो मोदी की छिव उन्होंने ऐसी गढ़ी जो अन्य पार्टियों के सुप्रीमो की छिव पर भारी पड़ी। मोदी गरीब है, मोदी पिछड़ा है, मोदी अतिपिछड़ा है, मोदी हिन्दू के लिए जान भी दे सकता है, मोदी पाकिस्तान को सबक सिखा सकता है, मोदी सारे देश का एकमात्र नेता है, मोदी विदेश में भी लोकप्रिय देश का पहला और इकलौता नेता है।

मोदी के व्यक्तित्व में इतनी खूबियां गढ़ दी गईं कि विरोधी दल के नेता क्षेत्रीय और कमजोर लगने लगे। मोदी के सामने तो बिल्कुल बौना। देश संभालने में अक्षम। इस छवि निर्माण में संघ परिवार के साथ एक और परिवार जुड़ा हुआ था, जिसे हम भारतीय संघी मीडिया परिवार कह सकते हैं। वह कदम से कदम मिलाकर संघ के साथ चल रहा था। आश्चर्य नहीं करना चाहिए, करीब दशकों से रूसी राष्ट्रपति पुतिन इसी मीडिया मैनेजमेंट के द्वारा लोकप्रियता की राजनीति करते हुए सता बरकरार रखे हुए है। इसलिए ब्रिटिश अख़बार दि गार्डियन को अपने संपादकीय में लिखने को मजबूर होना पड़ा कि विश्व को पुतिन की तरह एक और राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रियतावादी नेता नहीं चाहिए।

क्या बीजेपी की जीत जाति निरपेक्ष है और यह राष्ट्रवाद की जीत है

बार-बार देश के बुद्धिजीवियों द्वारा यह स्थापित करने की कोशिश की जा रही है कि मोदी की जीत जाति निरपेक्ष है क्योंकि मतदाताओं ने जातियों से ऊपर उठकर मोदी का समर्थन किया है। यह सर्वथा गलत आकलन है। भारत में राष्ट्रवाद की भी जाति है। जिस राष्ट्रवाद की बात बीजेपी करती है वह राष्ट्रवाद नहीं जाति वर्चस्व है। जाति वर्चस्व ही उसका राष्ट्रवाद है। जातियां एक के ऊपर एक तह की तरह सजी रहें और जातियां उसी में अपना गौरव समझें, यही उनका राष्ट्रवाद और देशभिक्त है। इस चुनाव में जाति-गौरव और जातिगत पूर्वाग्रह को बीजेपी ने बूथ स्तर तक भुनाया। कौन कह सकता है कि मोदी जाति-निरपेक्ष हैं? वे जाति-निरपेक्ष रहते तो खुद को अतिपिछड़ा और तेली बताते फिरते? आपकी आंख पर कोई अगर पट्टी बांध रहा है तो वह भारतीय मीडिया है। उसे लगता है कि यह मोदी के राष्ट्रवाद की जीत है। पूछने का मन करता है कि यह कैसा राष्ट्रवाद है जो सवर्ण वर्चस्ववाद को स्थापित करता है? संसद से लेकर पंचायत तक? यह कैसा राष्ट्रवाद है जो पीएम तक को जाति बताने पर मजबूर करता है?

क्या मोदी ने ईवीएम नहीं हिन्दू दिमाग को हैक कर लिया है

बहुत से लोग शंका व्यक्त कर रहे हैं मोदी और शाह ने ईवीएम को हैक कर चुनाव जीता है। चुनाव आयोग का मोदी के प्रति नरम रवैया, जरूरत से ज्यादा छूट देने और आयोग द्वारा अपारदर्शिता बरतने के कारण यह शंका स्वाभाविक है। फिर भी इस प्रश्न को स्थगित करते हुए एमआइएम के नेता असदुद्दीन ओवैसी के उस वक्तवरू पर एक बार गौर करते हैं जिसमें उन्होंने एक टीवी इंटरव्यू में कहा था कि बीजेपी ने ईवीएम नहीं, हिन्दू दिमाग को हैक कर लिया है। यह कहना उनकी राजनीति को सूट करता है और बीजेपी को भी। क्या खुद उनकी राजनीति में हिन्दू बेदखल हैं? क्या ऐसा कहना चाहते हैं वे? क्या उनकी जीत में हिन्दुओं का लेशमात्र योगदान नहीं? क्या टीआरएस हिन्दुओं और ब्राहमणों की पार्टी नहीं है जिससे उनका गठजोड़ है? क्या प्रकाश आंबेडकर की वंचित बहुजन अघड़ी हिन्दुओं की पार्टी नहीं जिसके साथ उनका गठबंधन है? यह कहना कि बीजेपी हिंदुत्व फैला रही है यह राजनीति को सरलीकृत कर देना है। हिन्दू - मुस्लिम की बाइनरी तैयार करना है।

बाबासाहेब ने कहा था हिन्दू समाज एक मिथ है। अगर सही कहें तो बीजेपी हिंदुत्व नहीं जातिवाद फैला रही है। पश्चिम बंगाल में उसने यही किया। वहां मतुआ संप्रदाय के साथ गठजोड़ किया। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि मतुआ संप्रदाय दो सौ साल पुराना है। इसने आधुनिक भारत में धार्मिक रूप से सबसे पहले ब्राह्मणवाद के खिलाफ बिगुल बजाया। इतिहास में नामशूद्रों को बहुत प्रताड़ित किया गया है। बांग्लादेश द्वारा भी और पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट सरकार और वहां के भद्रलोक द्वारा भी। इनकी आबादी पूरे पश्चिम बंगाल में 17 प्रतिशत है और करीब सत्तर विधानसभा के नतीजे प्रभावित करने की ये क्षमता रखते हैं। बीजेपी ने उनको साधा क्योंकि दशकों से इनको बंगाल के समाज में हाशिए पर खड़ा कर दिया गया था। इनके खिलाफ घृणा अभियान चलाया गया। इनकी इंटिग्रिटी और देशभिक्त पर सवाल उठाए गए।

इनको बीजेपी ने एक राजनीतिक स्पेस मुहैया करायी जिसमें ये खुद समाहित होते चले गए। भले दीर्घकालीन राजनीति में ये बीजेपी के साथ नहीं टिक पाएंगे, लेकिन अभी बंगाल में बीजेपी की ताकत बन चुके हैं। इस तरह बीजेपी ने वहां जातिवाद फैलाया। केवल नामशूद्री में नहीं, वहां पूर्वाचल और बिहार से गए उच्चवर्णी ब्राहमण, भूमिहार जैसी जातियों में राष्ट्रवाद के नाम पर बीजेपी ने जातिगत अस्मिता को भुनाया और बंगाल के स्थानीय भद्रलोक यानी कुलीन ब्राहमण, वैद्य और कायस्थों में सुषुप्त जाति अस्मिता को जगाया। इसलिए यह कहना कि बीजेपी हिंदुत्व फैला रही है, गलत है। वह सब जगह जातिवाद ही फैला रही है। जाति गौरव की परिभाषा गढ़ रही है, जिसे वे अपनी भाषा में राष्ट्रवाद कहते हैं।

क्या बीजेपी की जीत ने साबित कर दिया है कि ब्राह्मणवाद अपराजेय हैं

कुछ लोग डरे हुए हैं। उन्हें लग रहा है कि ब्राह्मणवाद, जो संविधान लागू होने के बाद शिथिल हो रहा था, पुनः स्थापित हो रहा है। भय निर्मूल नहीं है लेकिन वास्तविक परिस्थिति यह है कि ब्राह्मणवाद पहले से ज्यादा समावेशी हुआ है। अब वह किसी जाति को बहिष्कृत करने की बात नहीं करता बल्कि वह अपने खांचे में उसे समाहित कर रहा है। जातियों को वह जगह दे रहा है। पहले उसने कोइरी, राजभर को समाहित किया। बिहार में कुर्मी, पासवान को समाहित किया। चिराग पासवान के एक बार कहने पर छह सीट तुरंत दे दी गई। यह समावेश वह हिंदुत्व के नाम पर नहीं कर रहा है, बल्कि जातिगत अस्मिता के नाम पर कर रहा है। यह विपक्ष को चुनौती है क्योंकि उनका जातिगत नैरेटिव बीजेपी ने पूरी तरह हड़प लिया है। यही एक अस्त्र था जिससे वे बीजेपी को अतीत में परास्त करते थे। बीजेपी ने उनका अस्त्र ही छीन लिया। यह बीजेपी की मजबूती है और यहीं भविष्य में कमजोरी साबित होगी क्योंकि बीजेपी ने अपने अंदर इतना अंतर्विरोध इकट्ठा कर लिया है कि एक दिन यही उसके विघटन का कारण बनेगा।

बदली हुई परिस्थितियों में विपक्ष क्या करे

विपक्ष थोड़ा सांस ले। सोचे, कि समाज और परिस्थित कितनी बदल गई है। जाति की राजनीति से जाति का खात्मा नहीं होगा। जो आंबेडकरवादी हैं वे जानते हैं कि बाबासाहेब का अंतिम लक्ष्य था जाति का उन्मूलन। मिशनरी लोग इस बात पर कायम रहें। युग बदला है, युगधर्म बदला है। राष्ट्रवाद की परिभाषा बदल गई है। सवर्णों ने अपने सारे नैरेटिव बदल लिए हैं। उनके लिए अब महात्मा गांधी राष्ट्रपिता नहीं बल्कि देशद्रोही हैं और नाथूराम गोडसे महान देशभक्त। प्रज्ञा ठाकुर की जीत से यह साबित हुआ है। जिस गांधी की आंबेडकरवादी आलोचना करते नहीं थकते थे उसको उन्होंने खुद खारिज कर दिया है। अब नाथूराम गोडसे और उसके जैसे हत्यारा और आतंकवादी आपके सामने है, अपना नैरेटिव लेकर। वे अपना जातिवाद पूरे समाज पर थोपने की कोशिश करेंगे। उसको राष्ट्रवाद की भव्यता के रूप में समाज का श्रृंगार बनाने की कोशिश करेंगे। सबका साथ तो लेंगे लेकिन विकास गिने चुने लोगो का होगा। बहुत सारी चुनौतियां भारतीय समाज को मिलने वाली हैं जिससे निपटने के समेकित प्रयोजन नहीं किए गए तो भारतीय समाज की प्रगतिशीलता, स्वतंत्रता, भाईचारे को एक नए अंधकार-युग में प्रवेश करने से कोई नहीं रोक सकता।

अंत में निष्कर्षत: यही कहना है कि पूंजीवादी, पुरोगामी, जातिवादी तंत्र जो आधुनिक यंत्र-तंत्र से समृद्ध हो उससे पार पाना किसी राजनीतिक पार्टी के अकेले वश की बात नहीं। जिन्हें केवल राजनीतिक दल पर भरोसा है उन्हें केवल निराशा छोड़कर कुछ भी हाथ नहीं लगने वाली क्योंकि पूंजी प्रायोजित ब्रांड से निपटने की किसी राजनीतिक पार्टी के पास न तो इच्छाशक्ति है, न युक्ति है, न संसाधन है और न ही जोखिम उठाने का दम । वे अपने परंपरागत जाति-शस्त्रों से ही युद्ध लड़ने के लिए अभिशप्त हैं जबकि जाति अब एक भोथरा हथियार हो चुकी है। उन्हें संघ के विकल्प का दर्शन गढ़ना होगा जो उनके दायरे से बाहर की चीज प्रतीत होता है।

(मीडियाविजिल से साभार)

जनादेश 6

केवल पंद्रह साल में अर्श से फ़र्श पर पहुंच गई कम्युनिस्टों की चुनावी राजनीति सी.पी. झा

भारत की तीनों प्रमुख संसदीय कम्युनिस्ट पार्टियों की 2019 के आम चुनाव में जबरदस्त हार हुई है। उन्होंने केरल, पश्चिम बंगाल, तिमलनाडु समेत विभिन्न राज्यों में एक सौ से अधिक प्रत्याशी खड़े किये थे। सिर्फ पांच जीत सके। इनमें से भी चार तिमलनाडु में जीते हैं, जो मुख्यतः द्रविड़ मुनेत्र कषगम (डीएमके) के साथ गठबंधन की बदौलत संभव हो सका है।

केरल में सतारूढ़ लेफ्ट डेमोक्रेटिक फ्रंट (एलडीएफ) का नेतृत्व कर रही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) सिर्फ एक सीट जीत सकी। पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में बरसों सता में रही कम्युनिस्ट पार्टियों का तो पता ही साफ हो गया। नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय छात्र संघ के पूर्व अध्यक्ष और भारतीय कम्म्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) की नेशनल काउंसिल के सदस्य कन्हैया कुमार भी बिहार की बेगुसराय सीट पर बुरी तरह हार गए, जिसे कम्युनिस्ट भारत का लेनिनग्राद और स्तालिनग्राद तक कहते रहे हैं।

बंगाल में वाम दलों को न सिर्फ भारी चुनावी नुकसान हुआ बल्कि उनकी प्रतिबद्ध कतारों के कुछ हिस्से का दक्षिणपंथी भारतीय जनता पार्टी के पाले में चले जाने से भी कम्युनिस्टों की काफी भद्द पिटी है। चुनाव के तुरंत बाद राज्य में सीपीएम के तीन मौजूदा विधायकों में से एक बाकायदा भाजपा में शामिल हो गए। स्वतंत्र भारत के इतिहास में कम्युनिस्टों की यह सबसे बुरी चुनावी हार है। पार्टियों द्वारा इसके कारणों की विस्तृत समीक्षा अभी पूरी नहीं हुई है। मीडियाविजिल के चुनाव चर्चा स्तम्भ के इस अंक में हम भारत में कम्युनिस्टों के चुनावी प्रदर्शन का संक्षिप्त जायजा लेंगे। फिर हम केरल की स्थिति की विस्तृत चर्चा करेंगे, जहां आज भी कम्युनिस्टों की सरकार है।

स्वतंत्र भारत में 25 अक्टूबर 1951 से लेकर 21 फरवरी 1952 के बीच बहुत लम्बी अविध में हुए सबसे पहले चुनाव में ही कम्युनिस्टों ने जोर-आजमाइश शुरू कर दी थी। तब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन नहीं हुआ था। चुनावी राजनीति में कांग्रेस के बाद कम्युनिस्टों का असर ज्यादा था। उस बार चुनाव मैदान में 48 कम्युनिस्ट उतरे थे, जिनमें से 16 निर्वाचित हुए। इनमें से आठ तत्कालीन मद्रास राज्य से जीते थे जिसका बाद में प्नर्गठन किया गया। भाकपा

को कांग्रेस के 45 फीसद मत की तुलना में 313 प्रतिशत मत ही मिले पर यह वोट शेयर भारतीय जनता पार्टी के पूर्ववर्ती स्वरूप भारतीय जनसंघ को मिले 311 प्रतिशत मत से कुछ ज्यादा था, जिसके 94 प्रत्याशियों में से तीन ही चुने जा सके थे।

1957 के दूसरे आम चुनाव में सीपीआई को 819 प्रतिशत मत मिले और उसके 110 उम्मीदवारों में से 27 जीते। 1962 के आम चुनाव में कम्युनिस्टों का मत प्रतिशत बढ़कर 919 हो गया और उसकी जीती सीटें भी 29 हो गईं, जिनमें 9 पश्चिम बंगाल और 8 आंध्र प्रदेश की थीं। 1967 के आम चुनाव से कुछ पहले ही सीपीआइ का विभाजन हो गया। विभाजन से निकली नई पार्टी सीपीएम ने भी उस चुनाव में हिस्सा लिया। तब सीपीआइ ने 5 प्रतिशत मत प्राप्त कर 23 सीटें और सीपीएम ने 414 प्रतिशत मत हासिल कर 19 सीटें जीतीं। सीपीएम के सफल प्रत्याशियों में सर्वाधिक नौ केरल के थे।

कम्युनिस्ट पार्टियों को सर्वाधिक सफलता 2004 के लोकसभा चुनाव में मिली थी, जब उनके कुल 59 सांसद चुने गए। इनमें से अकेले सीपीएम के 44 सांसद थे। उस चुनाव के बाद सीपीएम के ही सोमनाथ चटर्जी लोकसभा के स्पीकर चुने गए थे। ऐसा शायद सीपीएम द्वारा कांग्रेस के नेतृत्व वाले यूनाइटेड प्रोग्रेसिव अलायंस (यूपीए) को सरकार बनाने के लिए बाहर से दिए समर्थन के 'एवज' में हुआ था। यह दीगर बात है कि वामपंथी दलों ने यूपीए सरकार को दिया अपना समर्थन उसके द्वारा अमेरिका के साथ किये परमाणु करार के विरोध में वापस ले लिया। लेकिन यूपीए की मनमोहन सिंह सरकार सता में बने रहने में कामयाब रही और सीपीएम के कहने पर भी सोमनाथ चटर्जी ने लोकसभा के स्पीकर पद से इस्तीफा नहीं दिया।

बहरहाल, 2009 के लोकसभा चुनाव में 24 कम्युनिस्ट ही चुने गए जिनमे सीपीएम के 16 शामिल थे। लोकसभा के 2014 में हुए चुनाव में केवल 10 कम्युनिस्ट जीत सके, जिनमें सीपीएम के 9 थे। 2019 के लोकसभा चुनाव में सीपीएम के तीन ही सदस्य लोकसभा के लिए चुने गए हैं। पिछले आम चुनाव में सीपीएम को 22196 फीसदी वोट मिले थे जो इस बार घटकर 613 प्रतिशत रह गया। सीपीआइ को 2014 में 2136 फीसदी वोट मिले, जो 2019 में घटकर 0139 प्रतिशत रह गया। इस कारण से निर्वाचन आयोग से मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय पार्टी बने रहने पर उस पर खतरा उत्पन्न हो गया है।

तीनों बड़ी संसदीय कम्युनिस्ट पार्टियों ने पिछले बरस अपनी पार्टी-कांग्रेस में निवर्तमान महासचिव को दोबारा चुनने के साथ ही आम चुनाव के लिए तैयारियां शुरू कर दी थीं। तीनों ने अपने पार्टी 'कार्यक्रम' को लगभग यथावत रखा, लेकिन भारतीय जनता पार्टी की 'फासीवादी'

प्रवृत्तियों के खिलाफ सीमित चुनावी परिप्रेक्ष्य में नई कार्यनीतियां बनाईं। सीपीएम की नई 'लाइन' के मुताबिक कांग्रेस से चुनावी सम्बन्ध नहीं रखने की पहले वाली सख्त लाइन में संशोधन कर प्रत्येक राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग चुनावी कार्यनीति बनाने पर जोर दिया गया। यह नई लाइन कारगर नहीं हुई। सीपीएम ने पश्चिम बंगाल में बीजेपी की चुनावी बढ़त को रोकने के लिए कांग्रेस के साथ पिछली बार दोनों की जीती सीटों पर तालमेल करने का सुझाव दिया था, जिसे कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। पश्चिम बंगाल की 42 में से 29 सीटों पर सीपीएम के प्रत्याशी थे, पर कोई नहीं जीत सका।

भारत में केरल कम्युनिस्टों की पहली उम्मीद बना जब वहां 1957 में देश की पहली लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार कायम हुई। बताया जाता है कि विश्व में पहली बार लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार इटली के समीप एक छोटे से देश सान मारिनो में द्वितीय विश्व युद्ध के लगभग तुरंत बाद कायम हुई थी जो ज्यादा टिक नहीं सकी। केरल में बनी पहली कम्युनिस्ट सरकार के मुख्यमंत्री ईएमएस नम्बूदरीपाद थे। बहरहाल, 'मोदीमय' भारत के मौजूदा दौर में कम्युनिस्टों के लिए केरल के आखिरी उम्मीद बने रहने में अब गंभीर शंका लगती है, जहां 2016 के विधानसभा चुनाव के बाद से मुख्यमंत्री सीपीएम के पिनाराई विजयन हैं।

केरल में लोकसभा की 20 सीटों में से 16 पर सीपीएम और चार पर सीपीआइ के उम्मीदवार थे। राज्य में वाम दलों ने दो सीटों पर निर्दलीय का समर्थन किया था। सीपीएम के आशावादी नेताओं को भले ही लगता हो कि कांग्रेस इस बार के लोकसभा चुनाव में अपना प्रदर्शन विधानसभा के 2021 में निर्धारित चुनाव में नहीं दोहरा सकेगी लेकिन पार्टी के कार्यकर्ता अंदरूनी तौर पर स्वीकार करते हैं कि राज्य में बरसों का राजनीतिक, धार्मिक और जातिगत चुनावी समीकरण भी इस बार एकाएक बदल गया। सीपीएम ही नहीं विजयन सरकार में शामिल घटक दलों को भी इसका एहसास है कि राज्य में कम्युनिस्ट ताकतों की कांग्रेस के हाथों बुरी गति हुई है, जिसे बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों का भी भारी समर्थन मिला। सीपीएम ने पिछले विधानसभा चुनाव में कुल 140 में से 91 सीटें जीती थीं लेकिन लोकसभा चुनाव में उन 91 में से 75 समेत कुल मिलाकर 123 विधानसभा खण्डों में कांग्रेस आगे रही।

कुछ टीकाकारों के अनुसार कांग्रेस अल्पसंख्यक समुदायों को यह यकीन दिलाने में कामयाब रही कि वह केंद्रीय सत्ता में भाजपा की वापसी रोकने के लिए सीपीएम से बेहतर विकल्प है। कांग्रेस को पार्टी अध्यक्ष राह्ल गांधी के केरल की वायनाड लोकसभा सीट से चुनाव लड़ने से भी राज्य में फ़ायदा हुआ। कांग्रेस को सबरीमाला मंदिर के आसपास के क्षेत्रों में बहुसंख्यक समुदाय के ज्यादातर वोट मिलने का आकलन है। इसका कारण यह बताया जा रहा है कि सबरीमाला मुद्दे पर कांग्रेस के नरम रूख ने बहुसंख्यक समुदाय के उस हिस्से को भी रिझाया जो भाजपा के साथ था।

भाजपा के वोट कांग्रेस को ट्रांसफर होने का एक दृष्टांत नेमोम विधान सभाखंड में भी मिला। भाजपा को राज्य विधानसभा के चुनाव में पहली बार जीत 2016 में नेमोम विधानसभा सीट पर ही मिली थी। इस बार के आम चुनाव में मतदान के आंकड़ों से स्पष्ट है कि उस क्षेत्र में वाम दलों के ही नहीं भाजपा के वोट भी कम हुए और कांग्रेस के बढ़ गए। अलाथुर में भी यही हुआ। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि कांग्रेस ने राज्य में भाजपा के असर की रोकथाम कर दी है। राज्य की राजधानी तिरुवनंतपुरम के विधानसभा खंडो में कांग्रेस के बाद सबसे ज्यादा असर भाजपा का ही है। देखना है कि एलडीएफ का कम्युनिस्ट नेतृत्व निकट भविष्य में कांग्रेस की जीत और भाजपा की बढ़त रोकने के लिए क्या करता है। केरल भी कम्युनिस्टों के हाथ से निकल गया तो देश में संसदीय वामपंथ का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।

उनकी बात

मुस्लिम आबादी वृद्धि और सेक्युलर डिस्कोर्स का हिंदुत्ववादी डर

शाहनवाज आलम

मुसलमानों की बढ़ती हुई आबादी पर होने वाली बहसों में मुख्यतः दो स्वर होते हैं। पहला, जो कि हिंदुत्ववादी जेहनियत से संचालित होता है, वह भारत में मुसलमानों की बढ़ती हुई आबादी को देश की सुरक्षा पर मंडराते खतरे के बतौर प्रचारित करता है। जिसका मकसद आम हिंदुओं में मुसलमानों से व्याप्त काल्पनिक भय को और ज्यादा बढ़ा कर उसका राजनीतिक लाभ उठाने का रहता है। वहीं दूसरा खेमा जो सेक्युलर बताए जाने वाले जेहन से संचालित होता है, इसे भगवा ब्रिगेड द्वारा गढ़ा गया मिथ बताता है और इस मिथ को आंकड़ों के आधार पर तोड़ने की कोशिश करता है। जिसके निष्कर्ष अक्सर ऐसे होते हैं कि मुसलमानों की आबादी उस हद तक नहीं बढ़ी है जितना कि हिंदुत्ववादी अफवाहबाज बता रहे हैं और दूसरा आबादी का बढ़ना किसी रणनीति के तहत नहीं है बल्कि इसकी वजह मुसलमानों में व्याप्त अशिक्षा और आध्विक विचारों की कमी है।

अगर राजनीतिक नजिरये से देखा जाए तो यह साफ हो जाता है कि दोनों खेमों के तर्कों में कोई खास फर्क नहीं है। पहला खेमा मुसलमानों की बढ़ती आबादी को खतरे की तरह देखता है और दूसरा खेमा उसे नकारते हुए यह बताता है कि मुसलमानों की आबादी नहीं बढ़ी है। यानी दूसरा खेमा भी इस ग्रन्थि से मुक्त नहीं हो पाता कि मुसलमानों की बढ़ती आबादी कोई समस्या नहीं है। हालांकि वह अपने आंकड़ों में बिल्कुल दुरुस्त होता है और नियत भी नेक होती है। दरअसल यह समस्या इस वजह से है कि हमारा पूरा सेक्युलर डिस्कोर्स हिंदुत्वव से इतना भयाक्रांत रहता है कि वह उससे उसी के हथियार से लड़ने को ज्यादा सुरक्षात्मक समझता है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि हमारी सेक्यूलरिज्म की सीमाएं हिंदुत्व ही तय करता है और सेक्युलर लोग उसी की परिधि में उससे बहस करते हैं। क्योंकि कहीं न कहीं उनके अंदर भी हिंदुत्वादी तर्कों पर आधारित डर मौजूद रहते हैं और वे कहीं न कहीं इस हिंदुत्ववादी विचार से सहमत होते हैं कि अगर मुसलमानों की आबादी बढ़ जाएगी तो भारत एक मुस्लिम स्टेट बन सकता है।

ये डर आजकल इस वजह से भी ज्यादा दिखता है कि मुस्लिम बहुल देश बन जाने का ख्याल आते ही अफगानिस्तान, सीरिया, आइएस, अलकायदा की तस्वीरें जेहन में घूम जाती हैं। सवाल उठाया जा सकता है कि जब आप सेक्युलर हैं तो फिर भारत के हिंदू बहुल से मुस्लिम बहुल देश बन जाने से क्यों डरते हैं। आखिर क्या यह बात दिमाग में नहीं है कि हिंदू बहुल देश में तो सेक्यूलरिज्म चाहे जैसा भी हो चल सकता है लेकिन मुस्लिम बहुल देश में सेक्युलरिज्म नहीं चल पाएगा। अगर ऐसा है तो आप में और जहीन हिंदुत्ववादियों के इस तर्क में क्या फर्क है कि भारत सिर्फ इसलिए सेक्युलर है कि यहां पर हिंदू बहुसंख्यक हैं। यानी इस सवाल पर हम पाते हैं कि आम हिंदू और सेक्युलर (या उदार हिंदू, सेक्युलर होने का मतलब धार्मिक तौर पर नास्तिक होने से नहीं बल्कि राजनीतिक तौर पर धर्मनिरपेक्ष होने से हैं) बुद्धिजीवी में सिवाए मुस्लिम फोबिया के डर से ज्यादा ब्लंटली वोकल होने और माइल्डली वोकल होने के अलावा और कोई अंतर नहीं है।

इस पूरे उपक्रम का सबसे घातक परिणाम यह हुआ है कि एक नागरिक समूह के बतौर मुसलमानों में नागरिक होने के बोध का तेजी से क्षरण हुआ है। चुनावी लोकतंत्र जिसमें अंततः सर ही गिने जाते हैं, में वह अपना सर आत्मविश्वास से गिनवाने के बजाए उसे छुपाने की मुद्रा में आ जाता है। इस स्थिति की तुलना यदि हम भारतीय समाज में हाशिए पर बताए जाने वाली पिछड़ी जातियों से करें तो यह और स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि पिछड़ी जातियों का नेतृत्व लगातार इसकी मांग करता है कि उसकी आबादी के जातिगत आकंड़ों को सामने लाया जाए क्योंकि उसकी आबादी उससे कहीं ज्यादा है जितना कि सरकारें बताती हैं। उसके इस बहस में सारे सेक्युलर लोग भी उसके साथ होते हैं। यानी एक कमजोर और पिछड़ा समूह अपनी बढ़ी आबादी को अपने चुनावी हथियार के बतौर देखता है जिससे वह अपनी हैसियत और बारगेनिंग क्षमता में इजाफा कर सकता है जिबक उससे ज्यादा बुरी स्थिति में होने के बावजूद मुसलमान अपनी बढ़ती आबादी को स्वीकार तक करने की हिम्मत नहीं कर पाता। जाहिर है ऐसा सिर्फ इसलिए है कि पिछड़ी जातियां धार्मिक तौर पर हिंदू हैं (कुछ लोग कह सकते हैं कि ये वर्गीकरण सामाजिक आधार पर है और इसमें मुसलमानों की कमजोर जातियां भी शामिल हैं, लेकिन विभिन्न आंकड़े ये साबित करने के लिए सार्वजिनक तौर पर मौजूद हैं कि यह सिर्फ मजाक) और लोकतंत्र में उनकी बढ़ती बारगेनिंग क्षमता से लोकतंत्र के और मजबूत होने की उम्मीद की जाती है।

सबसे अहम कि मुसलमानों की तरह उनकी बढ़ती आबादी देश और समाज के लिए कोई सुरक्षा का संकट नहीं पैदा करता। यानी इससे सम्पूर्णता में हिंदुओं का राजनीतिक विकास होता है। (1) वहीं सेक्युलर डिस्कोर्स की इस समझदारी ने मुसलमानों के राजनीतिक सशक्तीकरण (हालांकि कुछ कथित सेक्युलर लोगों के लिए यह भी एक डरावनी परिकल्पना है, कुछ-कुछ 'हिंदू घटा-देश बंटा' जैसा) को कैसे बाधित किया है इसकी एक और नजीर देखनी जरूरी है। मुसमलानों की बढ़ती आबादी की वजह उनमें अशिक्षा, पोलीगेमी, गर्भ निरोधक उपायों के इस्तेमाल में धार्मिक कारणों से झिझक और आधुनिक विचारों से हुई दूरी बताई जाती है। लेकिन हम देखते हैं कि दलितों में कमोबेस इन्हीं कारणों से आबादी में वृद्धि पाई जाती है। लेकिन उस समाज ने इसे कभी भी अपने राजनीतिक उत्थान में बाधा नहीं समझा और ना उसे ऐसा समझाने के लिए कथित सेक्युलर लोगों ने टांग ही अझया बल्कि उसकी बड़ी आबादी को सता तक पहुंचने के साधन के बतौर व्याख्यायित किया जिसके चलते सामाजिक तौर पर पीछे होने के बावजूद उनका राजनीतिक सशक्तिकरण जबरदस्त ऊंचाइयों को छू सका।

सवाल उठता है कि आखिर सेक्युलर खेमें ने दिलतों की आबादी वृद्धि पर उनके साथ मुसलमानों जैसा बर्ताव क्यों नहीं दिखाया। आखिर दिलतों के राजनीतिक सशक्तिकरण को तो स्वागत योग्य बताया गया लेकिन मुसलमानों के राजनीतिक सशक्तिकरण जो लोकतंत्र में सिर्फ और सिर्फ संख्या के बल पर होता है जिसका उसके पास प्रचुरता है, को कठमुल्लावाद और अशिक्षा जैसे सवालों के इर्द-गिर्द क्यों भटका देने की कोशिश की गई? क्या इसकी वजह यह है कि भारतीय सेक्युलरिज्म की पूरी अवधारणा ही मुसलमानों के खुद के राजनीतिक सशक्तिकरण, उनके बीच से किसी मायावती या लालू के उभार को रोक कर खुद उनका नेतृत्व करने की समझदारी पर दिकी हुई है? अगर ऐसा नहीं है तो फिर क्या है और अगर ऐसा है तो फिर ये सवाल नहीं उठता कि क्या ये इस समझदारी के कारण है कि मुसलमानों का राजनीतिक सशक्तिकरण का मतलब देश का एक और विभाजन होना होगा, इससे एक और पाकिस्तान की बुनियाद पड़ेगी?

दरअसल मुसलमानों की आबादी के बहस के निहितार्थ को हम सिर्फ अफवाह या आंकड़ों के खेल तक महदूद करके नहीं देख सकते। इसका एक हिडेन एजेंडा है और वह है उनमें नागरिक होने के बोध को कम से कमतर करना, उन्हें हमेशा इस मनोवैज्ञानिक दबाव में रखना कि वे खुद अपनी बात नहीं कह सकते, अपनी भागीदारी का सवाल नहीं उठा सकते यानी अपनी राजनीति नहीं कर सकते। लोकतंत्र में किसी भी समाज को आर्थिक और सामाजिक तौर पर गुलाम बनाने से शासक समूह का हित नहीं सधता, वो उसे राजनीतिक तौर पर गुलाम बनाने की योजना पर काम करता है। इसीलिये हम पाते हैं कि मुसलमानों के आर्थिक, शैक्षणिक बेहतरी के वादे तो सारी सरकारें करती हैं और उन्हें कुछ हद तक पूरा भी करती हैं लेकिन उनके सत्ता में भागीदारी के सवाल पर सांस तक नहीं लेती हैं। उनका प्रयास उनके अनागरिकीकरण का होता है। इसे और बेहतर तरीके से समझने के लिए कुछ उदाहरण देखने जरूरी होंगे।

पहला, अगर दिलतों के साथ हुई हिंसा पर बात होती है तो हमारा जोर इस बात को रेखांकित करने पर रहता है कि भारतीय संविधान में सभी लोग बराबर हैं, िकसी के साथ जातिगत आधार पर भेद-भाव और हिंसा नहीं की जा सकती। यानी हम दिलतों की पीड़ा को हल करने के लिए एक आधुनिक राष्ट्र राज्य में उसके संविधान के हवाले से बात करते हैं। लेकिन जब भी साम्प्रदायिक हिंसा जिसमें अक्सर मुसलमान ही पीड़ित होता है, की पीड़ा को सम्बोधित करना होता है तो हम भारत के हजारों साल की साझी विरासत और सिहण्णुता का बखान करते हैं। यानी दिलतों के मामले में हम उसमें आधुनिक राष्ट्र राज्य में उसके नागरिक होने के बोध को संचारित करते हैं और उसके एक नागरिक होने के नाते उसे प्राप्त अधिकारों की बात करते हैं। लेकिन मुसलमान के मामले में हम आधुनिक राष्ट्र राज्य, उसकी बुनियाद संविधान के बजाए हम उसे मध्यकालीन युग की प्रजा की हैसियत से सम्बोधित करते हैं और उसकी सुरक्षा को हम सामने वाले की सिहण्णुता के भरोसे छोड़ देते हैं क्योंकि वो तो हजारों साल से सिहण्णु रहा है और अगर आज वो असिहण्णु हो गया है तो उसे आधुनिक दंडनात्मक तरीके से सही करने के बजाए उसे उसकी सिहण्णुता की याद दिलाने की कोशिश करते हैं।

दोनों स्थितियों में बुनियादी फर्क यह है कि दिलत अपनी सेफ्टी के लिए राज्य के सामने नागरिक अधिकार प्राप्त आधुनिक मानव की हैसियत से बात करता है और आधुनिक राष्ट्र राज्य को उसकी जवाबदेही याद दिलाता है। जबिक मुसलमान जिसे धर्म के आधार पर भेद-भाव और हिंसा से बचाने की जिम्मेदारी राज्य की है, जिसकी सुरक्षा की हर कीमत पर गारंटी देना भारत के संयुक्त राष्ट्र के अल्पसंख्यकों की रक्षा के मसौदे पर हस्ताक्षरकर्ता होने के नाते भारतीय राज्य को है, राज्य को चैलेंज करने के बजाए वह राज्य के सामने मध्यकालीन युग के फरियादी की तरह हर तरह के आधुनिक नागरिक अधिकारों से वंचित, खड़ा दिखता है।

दूसरा, भारतीय राज्य के कथित सेक्युलर चिरत्र को प्रचारित करने के लिए बताया जाता है कि हमारा संविधान सभी धर्मों को मानने वालों को अपने धर्म का प्रचार प्रसार करने का हक देता है। लेकिन हम देखते हैं कि धर्म प्रचार के मामले में उदारता दिखाने वाला यही संविधान मुस्लिम और ईसाई दिलतों को हिंदू न होने के कारण उन्हें आरक्षण के लाभ से वंचित कर देता है या मुसलमानों और ईसाईयों को आरक्षण देने को संविधान विरोधी बताता है। यानी, एक मुसलमान या ईसाई अगर भारतीय संविधान में निहित सेक्युलिरज्म को महसूस करना चाहे तो उसे वह नौकरी में आरक्षण पा कर नहीं कर सकता, इसके लिए उसे घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करना पड़ेगा। जाहिर है धर्म का प्रचार करने के अधिकार के

इस्तेमाल से आप उन आधुनिक नागरिक मूल्यों और आत्मविश्वास से लैस नहीं हो सकते जो आपको उच्च शिक्षण संस्थानों में दाखिले और रोजगार से प्राप्त होता है। यानी भारतीय संविधान आपको एक धार्मिक समूह बनने की इजाजत तो देता है लेकिन नागरिक बनने के प्रयास को बाधित करता है। जाहिर है पहली स्थिति से उसे कोई दिक्कत नहीं है लेकिन दूसरी से जरूर कोई दिक्कत है।

तीसरा, लगातार नागरिक बोध (यहां चेतना इसिलए नहीं कहा जा सकता कि चेतना रिवर्स नहीं होती, बुरी से बुरी स्थित में भी वह सिर्फ कुंद्र हो सकती है जबिक बोध अथवा एहसास बढ़ या घट सकता है) के क्षरण के कारण मुसलमानों में दूसरे सामाजिक समूहों की तरह राजनीतिक आत्मविश्वास से अपनी बात रखने का साहस खत्म होता गया है। मसलन, पिछड़े, आदिवासी या दिलत तो आज व्यवस्था को खुलेआम चुनौती दे सकते हैं कि यदि उनकी मांगे नहीं मानी गईं या उनके अधिकार उन्हें नहीं दिए गए तो वे 'व्यवस्था को नहीं चलने देंगे', जिसे उनके नेतृत्व के बागी तेवर के बतौर व्याख्यायित किया जाता है। लेकिन ऐसी किसी भाषा की कल्पना भी मुस्लिम नहीं कर सकता क्योंकि उसके 'व्यवस्था को चैलेंज' करने का मतलब देश को चैलेंज करना होगा, जो देशद्रोह होगा, राष्ट्रीय सुरक्षा को चुनौती होगी, दुश्मन देश पाकिस्तान को लाभ पहुंचाने वाला और ना जाने क्या-क्या होगा। क्या यह सही नहीं है कि किसी भी समाज में यदि व्यवस्था से बगावत करने की कल्पना को ही खत्म कर दिया जाए तो वह कभी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता। भारतीय राज्य मुसलमानों के अनागरिकीकरण के एजेंडे से यही हासिल करता है। (2) जिसमें उसकी मदद चाहे अनचाहे कथित सेक्यूलर लोग भी करते हैं।

मसलन, रिहाई मंच ने अपने एक दस्तावेज में उत्तर प्रदेश में दिलतों को आत्मरक्षा के लिए राज्य द्वारा हिथयार उपलब्ध कराने की मांग बिहार में दिलत विरोधी सामंती हिंसा की घटनाओं की रोशनी में की जहां आयोगों की सिफारिशों पर सरकार ने दिलतों को हिथयार मुहैया कराए थे तो उसका स्वागत किया गया लेकिन जब आत्मरक्षा हेतु मुसलमानों के लिए भी ऐसी ही मांग साम्प्रदायिक हिंसा में पुलिस की साम्प्रदायिक भूमिका की बात स्वीकार करने वाली सरकारी जांच आयोगों की रपटों की रोशनी में की गई तो इसे कुछ लोगों ने एक सिरे से नकार दिया। आखिर क्या इसकी वजह सेक्युलर बताए जाने वाले लोगों में व्याप्त यह धारणा नहीं है कि दिलतों के हाथों में हिथयार आने से तो सामंतवाद का नाश होगा, गरिमामय और बराबरी मूलक समाज बनेगा लेकिन मुसलमानों के हाथ में आत्मरक्षा के लिए सरकार द्वारा मुहैया हिथयार भी अलकायदा और आइएस के एजेंडे को पूरा करेगा?

इस पूरी प्रक्रिया ने- जो शुरू होती है मुसलमानों की बढ़ती आबादी पर देखने में भिन्न लगने वाली दो खेमों के बीच बहस से- इस हद तक मुसलमानों को असहाय बना दिया है कि वह चुनाव के समय भी अपने साथ होने वाली नाइंसाफी का सवाल रणनीतिक तौर पर उठाने से परहेज करने लगता है क्योंकि उसे पता होता है कि उसके 'सहयोगी सेक्युलर वोटर', जो यूपी के संदर्भ में पिछड़े और दलित होते हैं, इन सवालों के उठते ही हिंदुत्ववादी खेमें में चले जाएंगे। यानी कथित सेक्युलर खेमें में भी जो पूरी तरह उसके वोट (यूपी में यादव 9 प्रतिशत, मुसलमान 18.5 प्रतिशत है) और नोट पर ही टिका होता है, में भी वह बिना दर्जे की हैसियत में रहता है क्योंकि आबादी में ज्यादा होने के बावजूद उसका इस्तेमाल कोई कम संख्या वाली हिंदू बिरादरी ही कर सकती है जिससे कि समाजवादी, सेक्युलर या बहुजनवादी निजाम कायम होता है। यदि वह खुद अपनी संख्या- जिसे खतरे के बतौर प्रचारित किया जाता है- का इस्तेमाल करे तो वह देश के हित में नहीं होगा, उससे एक और 'पाकिस्तान' बन जाएगा। अपने सवाल उठाकर

कथित सेक्युलर वोटों के बंटवारे को रोकने का यह तर्क इस हद तक खतरनाक हो चुका है कि अब मुसलमानों के आतंकवाद के नाम पर फर्जी मुकदमों में फंसाए जाने, फर्जी मुठभेड़ों में मारे जाने जैसे जिंदा रहने के सवालों को भी उठाते वक्त उससे यह उम्मीद की जाती है कि वह रणनीतिक तौर पर इन सवालों के साथ महंगाई, बेरोजगारी जैसे सवाल भी उठाए ताकि आम हिंदू को भी उसके साथ आने में हिचक न हो।

देखने सुनने में आदर्श लगने वाले इस तर्क के साथ दिक्कत यह है कि इससे मुसलमानों की सुरक्षा पर मंडरा रहे खतरे का सवाल मंहगाई जैसे सवाल के समकक्ष दिखने लगता है। और इस प्रक्रिया में उसकी जिंदगी की कीमत प्याज और तेल के बराबर होती जाती है, यानी उसकी जिदंगी का अवमूल्यन हो जाता है। सबसे अहम कि इस रणनीति से बना कथित सेक्युलर गठबंधन का गैर मुस्लिम हिस्सा उनका वास्तविक और ईमानदार साथी कभी नहीं बन पाता। पहला मौका मिलते ही वह हिंदुत्व के अपने स्वाभाविक गिरोह में चला जाता है। उत्तर प्रदेश में सपा और बसपा के जनाधारों के साथ बने मुसलमानों के समीकरण में यह नतीजा कहीं भी और कभी देखा जा सकता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि मुसलमानों की बढ़ती आबादी के कथित सेक्युलर डिस्कोर्स ने उसे राजनीतिक तौर पर कमजोर करने का ही काम किया है, जो हिंदुत्ववादी एजेंडे के लिए मुफीद है। बाहय तौर पर मुसलमानों की बढ़ती आबादी को 'खतरा' मान कर चलने वाली इस बहस के कारण होने वाली मुसलमानों के अनागरिकीकरण की प्रक्रिया का एक दूसरा और पूरक आंतरिक प्रसंग भी है जो ज्यादा संस्थागत है और जो इस पूरी कवायद की तार्किक परिणित भी है। यह है मुसलमानों के मताधिकारी बनने में आई जबरदस्त गिरावट जिसपर कभी बहस ही नहीं होती है। दक्षिणपंथी खेमा तो जानबूझकर इसे दबाए रहता है कथित सेक्युलर खेमा भी चुप रहता है।

दरअसल मुस्लिमों के एक खासे हिस्से को राजनैतिक तौर पर 'अनागरिक' बनाने के इस सांप्रदायिक साजिश का खुलासा तब हुआ जब अवामी काउंसिल फार डेमोक्रेसी एण्ड पीस नाम की गैरसरकारी संस्था ने आजमगढ़ और मऊ जिलों में लगभग डेढ़ लाख मुस्लिमों के नाम मतदाता सूची से बाहर होने के मुद्दे पर इलाहाबाद हाई कोर्ट में याचिका दायर की। जिस पर मुख्य न्यायाधीश हेमंत गोखले ने चुनाव आयोग की कार्यप्रणाली पर तल्ख टिप्पणी करते हुए इसे तत्काल सुधारने का निर्देश दिया था, बावजूद इसके चुनाव आयोग ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया। अवामी काउंसिल ने यह याचिका अपने छह महीने के सर्व के बाद की थी जिसमें उसके कार्यकर्ताओं ने आजमगढ़ और मऊ जिलों के मुस्लिम आबादी के दरवाजे-दरवाजे जाकर मतदाता बनने से वंचित रह गए लोगों की संख्या इकट्ठा की और उन्हें मतदाता बनने के लिए भरे जानेवाले फार्म 6 को भरवाया था। इस सर्वे के नतीजे चैंकाने वाले थे। पाया गया कि सिर्फ आजमगढ़ लोकसभा क्षेत्र में ही लगभग 75 हजार मुस्लिम मतदाता बनने की शर्ते पूरी होने के बावजूद मताधिकार से वचित हैं, जो आजमगढ़ लोकसभा क्षेत्र के कुल मुस्लिम मतदाताओं का 44 प्रतिशत है। वहीं घोसी लोकसभा क्षेत्र में लगभग 80 हजार मुस्लिमों के नाम मतदाता सूची से गायब हैं। घोसी के मामले में तो स्थानीय संगठनों ने चुनाव आयोग के विरुद्ध उच्च न्यायालय में रिट दायर किया हुआ है। जब सिर्फ दो लोकसभा क्षेत्रों में ही डेढ़ लाख मुस्लिम मतदाता सूची से बाहर हैं तो फिर पूरे प्रदेश की क्या स्थिति होगी इसकी कल्पना की जा सकती है।

अवामी काउंसिल के महासचिव असद हयात जिन्होंने आजमगढ़ और मऊ के आंख खोल देने वाले आकड़ों के बाद पूरे प्रदेश के एक-एक बूथ की मतदाता सूची की गहन पड़ताल के बाद उच्च न्यालय का दरवाजा खटखटाया, उनका दावा है कि पूरे प्रदेश में लगभग बावन लाख पच्चीस हजार छह सौ तिरासी मुसलमान मतदाता सूची से बाहर हैं। अल्पसंख्कों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हैसियत का आकलन करने के लिए संप्रग सरकार द्वारा गठित सच्चर कमेटी ने भी अपनी रिपोर्ट में अल्पसंख्यकों खास कर मुसलमानों के नाम मतदाता सूचियों से गायब होने पर चिंता जाहिर करते हुए कहा था 'ऐसा होने से न केवल मुसलमान राजनैतिक तौर पर कमजोर हो रहे हैं बल्कि सरकारी विकास योजनाओं से भी महरुम हो रहे हैं।

मुसलमानों की बढ़ती आबादी की इस बहस में यह भी जानना जरूरी होगा कि उत्तर प्रदेश में 2001 में हुई जनगणना और उसके आधार पर बनी मतदाता सूची के मुताबिक प्रदेश में कुल जनसंख्या सोलह करोड़ इकसठ लाख सत्तानबे हजार नौ सौ इक्कीस है जिसमें मुस्लिम तीन करोड़ चैहतर लाख एक सौ अट्ठावन हैं, जो कुल जनसंख्या का 18.5 प्रतिशत हैं। वहीं गैर मुस्लिम आबादी तेरह करोड़ चौव्वन लाख सत्तावन हजार सात सौ तिरसठ है जो कुल जनसंख्या का 81.5 प्रतिशत है। पूरे प्रदेश में 2007 में संपन्न विधानसभा चुनावों में प्रयुक्त मतदाता सूची के मुताबिक कुल मतदाता संख्या ग्यारह करोड़ चौतीस लाख उन्तालिस हजार आठ सौ तिहत्तर है। यानी 2001 की जनगणना की 68.25 प्रतिशत जनता 2007 में मतदाता बन गयी। इसमें मुस्लिम मतदाताओं की संख्या एक करोड़ सत्तावन लाख साठ हजार छह सौ तिरानबे है जो कि कुल मतदाताओं का 13.89 प्रतिशत है जबिक गैर मुस्लिमों की संख्या नौ करोड़ छिहत्तर लाख उन्यासी हजार एक सौ अस्सी है जो कुल मतदाताओं का 86.10 प्रतिशत है।

यहां यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आखिर जब कुल जनगणना के हिसाब से मुस्लिम आबादी 18.5 प्रतिशत है तो फिर मतदाता सूची में यही आकड़ा घट कर कैसे 13.89 प्रतिशत हो गया, जबिक दोनों को एक समान होना चाहिए। वहीं दूसरी ओर गैर मुस्लिम आबादी अपनी जनगणना का 81.5 प्रतिशत है लेकिन मतदाता सूची में यह आंकड़ा बढ़ कर 86.10 प्रतिशत हो गया है। यानी जहां एक ओर गैर मुस्लिम अपनी 2001 की घोषित आबादी के मुकाबले आश्चर्यजनक रूप से 5.05 प्रतिशत (5728713) अधिक मतदाता बन गए, वहीं इसके उलट सैतालिस लाख उन्नीस हजार अट्ठानवे मुस्लिम नागरिक अपनी आबादी से 4.16 प्रतिशत कम हो कर मतदाता बनने से वंचित रह गए। मुस्लिमों और गैर मुस्लिमों के मतदाता बनने के इस असमानता को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। 2001 की जनगणना में कुल मुस्लिम आबादी तीन करोड़ चौहतर लाख एक सौ अट्ठावन है जिसमें से सिर्फ 51.27 प्रतिशत यानी एक करोड़ सतावन लाख छह हजार तिरानबे लोग ही मतदाता हैं। वहीं गैर मुस्लिमों की कुल आबादी तेरह करोड़ चौटवन लाख सतावन हजार सात सौ तिरसठ में से नौ करोड़ छिहतर लाख उन्यासी हजार एक सौ अस्सी लोग मताधिकारी हैं, जो अपनी आबादी का 72.11 प्रतिशत है। इसका मतलब कि मुसलमानों की मतदाता बनने की दर गैर मुसलमानों के मुकाबले 20.84 प्रतिशत कम रही जबिक इसे भी 72.11 प्रतिशत होनी चाहिए था क्योंक मतदाता बनने की दर समान होनी चाहिए।

इस प्रकार मुस्लिम मतदाताओं की संख्या दो करोड़ इक्कीस लाख छाछठ हजार दो सौ अठहत्तर होनी चाहिए थी जबकि यह है सिर्फ एक करोड़ सत्तावन लाख छिहत्तर हजार छह सौ तिरानबे यानी चौसठ लाख छह हजार पैंतिस मुसलमान मतदाता बनने से वंचित कर दिए गए हैं। बहरहाल यह तो चुनाव आयोग की हेरा-फेरी की सिर्फ सतह है जिसके नीचे और भी कई चौंकाने वाले तथ्य दबे हैं। मसलन 1981 की जनगणना के मुताबिक उत्तर प्रदेश में कुल मुस्लिम आबादी एक करोड़ छिहतर लाख सत्तावन हजार सात सौ पैंतिस और गैर मुस्लिम आबादी नौ करोड़ बतीसलाख चार हजार दो सौ अठहतर बतायी गई है लेकिन 2007 की मतदाता सूची से पता चलता है कि मुस्लिम मतदाताओं की कुल तादाद एक करोड़ सत्तावन लाख साठ हजार छह सौ तिरानबे है जो उनकी 1981 की जनसंख्या से भी लगभग बीस लाख कम है। यानि 2007 तक प्रदेश में मुसलमान उतनी संख्या में भी मतदाता नहीं बन पाए जितनी सत्ताइस साल पहले उनकी आबादी थी। जबिक दूसरी ओर गैर मुस्लिम इसी समयाविध में अपने 1981 की जनगणना से 104 प्रतिशत ज्यादा यानी नौ करोड़ छिहतर लाख उन्यासी हजार एक सौ अस्सी मतदाता बन गए।

जाहिर है यह पूरा खेल चुनाव आयोग इसिलए कर ले जाता है क्योंकि मुसलमानों की आबादी पर बाह्य बहस में उनकी आबादी को खतरे के बतौर देखा जाता है। मुस्लिम नागरिकों के मतदाता बनाने में चुनाव आयोग के इस सांप्रदायिक और भेदभावपूर्ण रवैये को हम सीटों के परिसीमन में भी देख सकते हैं। कई सीटों को, जिस पर मुस्लिमों की तादाद अनुसूचित जाति की आबादी से अधिक है, सुरक्षित कर दिया गया है। दरअसल, सच्चर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस मुद्दे को गंभीरता से लेते हुए पेज 225 पर लिखा है- 'एक अधिक विवेकशील सीमांकन प्रक्रिया अधिक अल्पसंख्यक आबादी वाले निर्वाचन क्षेत्रों को अनुसूचित जातियों के लिए आरिक्षित न कर, अल्पसंख्यकों विशेषकर मुस्लिमों के लिए संसद और विधानसभाओं के लिए चुनाव लड़ने और चुने जाने के अवसर को बढ़ा देगी। सिमिति इस विषमता को खत्म करने की संस्तुति करती है।' आयोग की इस संस्तुति के बावजूद सरकार ने इसे नजरअंदाज कर दिया जिसके चलते कई ऐसी सीटें जहां मुस्लिम आबादी दिलतों से अधिक है, सुरक्षित कर दी गयी हैं।

मसलन, बहराइच लोकसभा क्षेत्र में मुसलमानों की तादाद कुल आबादी का चौंतिस प्रतिशत है जबिक दिलत सिर्फ 18 प्रतिशत हैं। बावजूद इसके इसे सुरक्षित घोषित कर दिया गया है। इसी तरह बिजनौर को तोड़कर बनाई गयी नगीना लोकसभा सीट आरक्षित कर दी गई है जबिक यहां मुस्लिम आबादी 40 फीसद है। इसी तरह बुलंदशहर में मुस्लिम आबादी दिलतों से अधिक है लेकिन इसे भी सुरक्षित कर दिया गया है। दरअसल, मुस्लिमों के जनप्रतिनिधि बनने के अधिकार के मामले में यह भेदभाव सिर्फ लोकसभा और विधानसभाओं जैसे ऊपरी स्तर पर ही नहीं है बिल्क ग्राम पंचायत जैसे लोकतंत्र के शुरुआती पायदानों पर भी दिखता है। मसलन, आजमगढ़ के फूलपुर ब्लाक की लोहिनया डीह ग्राम सभा सुरक्षित है जबिक यहां सिर्फ दो दिलत परिवार ही रहते हैं।

नए परिसीमन में अल्पसंख्यक मतदाताओं के साथ भाषाई स्तर पर भी भेदभाव साफ देखा जा सकता है। मसलन 1976 के आधार पर परिसीमित विधानसभा और लोकसभा क्षेत्रों में 134 विधानसभा क्षेत्रों की मतदाता सूचियां उर्दू में प्रकाशित होती थीं जिनमें मुस्लिम मतदाताओं की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक बताई गई थी। लेकिन नए परिसीमन के बाद सिर्फ 48 विधानसभा क्षेत्रों में ही उर्दू में मतदाता सूची प्रकाशित की जा रही है। यह आश्चर्य का विषय है कि यह संख्या 134 से घटकर 48 कैसे हो गई और किस तरह जहां पहले 134 विधानसभा क्षेत्रों में उर्दू भाषी मतदाताओं की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक थी वो अब कैसे घटकर 48 हो गई। दरअसल चुनाव आयोग का यह मुस्लिम विरोधी रवैया, जिस पर कोई भी बहस नहीं करता, सिर्फ उनको चुनावी प्रक्रिया से अलग-थलग काटकर रखने वाला ही नहीं है बल्कि

मुसलमानों के उस भावनात्मक और ऐतिहासिक निर्णय पर कुठाराघात है जब उन्होंने एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण के लिए पृथक निर्वाचन मंडल और पृथक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का त्याग किया था।

संदर्भ

- 1. भागलपुरः राष्ट्रीय शर्म के 25 साल, लेखक शरद जायसवाल, में संकलित राजीव यादव का लेख 'कमडंल की विस्तार साबित हुआ मंडल', प्रकाशक मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली
- 2 शाहनवाज आलम का लेख 'मुसलमानों को विक्टिमहुड मानसिकता से निकलना होगा', बियोंड हेडलाइन्स डाट इन

(यह लेख किताब 'जनसंख्या की खबरों का सच' में प्रकाशित हो चुका है। मीडिया स्टडीज ग्रुप की इस किताब का संपादन वरुण शैलेश और संजय कुमार बलौदिया ने किया है।)